श्री रामकृष्ण-विवेकानंद भाव-धारा की एकमात्र हिंदी मासिकी

विवेक शिखा

वर्ष—७ अप्रैल—१९८८ अंक—४
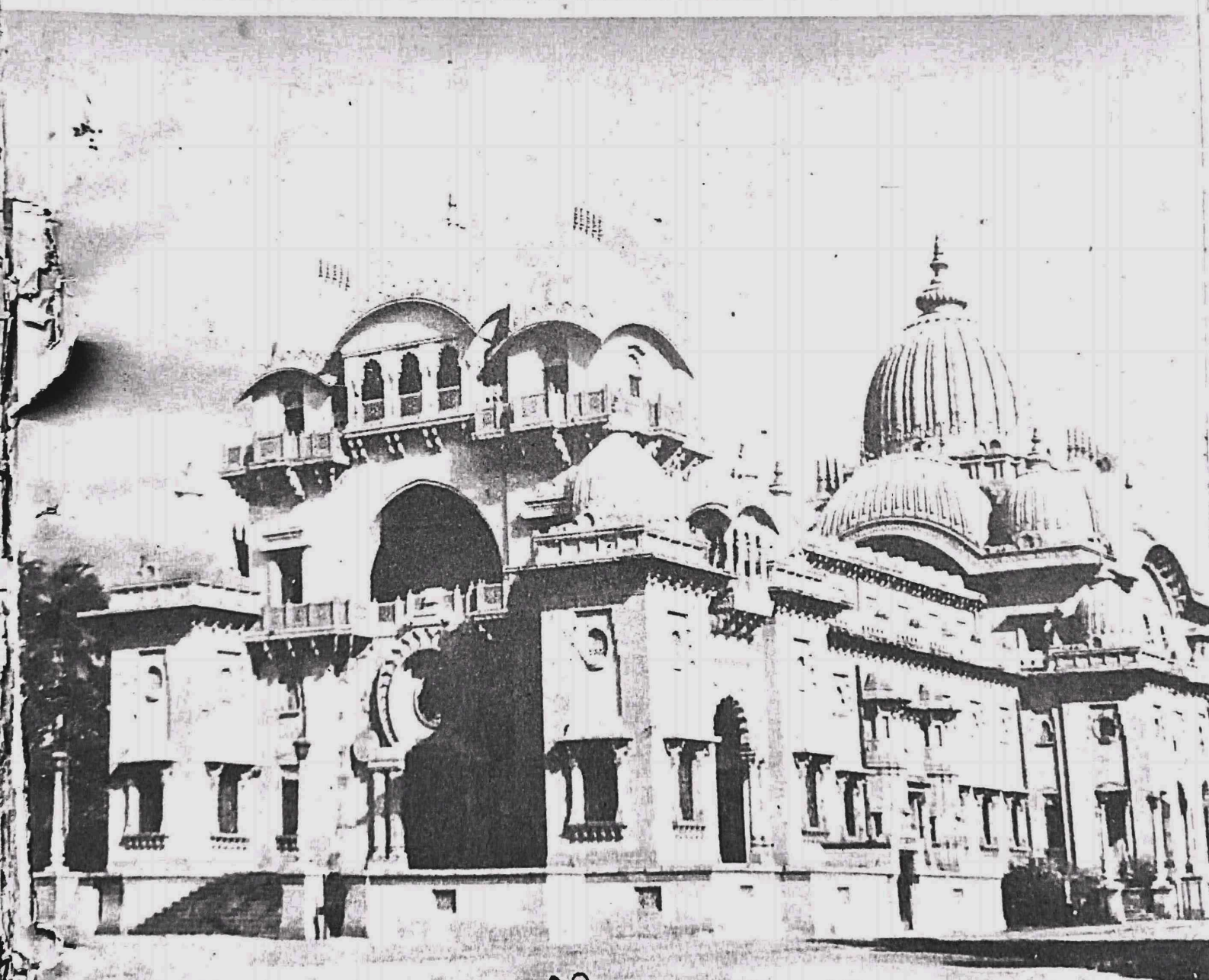
विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

२१. श्रीराम विलास चौधरी—सुपौल, दरभंगा (बिहार)
२२. डा० रमेश चन्द्र प्रसाद—देनगर (बिहार)
२३. श्री मातादीन मिश्र—सारण (बिहार)
२४. एम० एम० नानालगी—कादरा (कर्नाटक)
२५. श्री हेमराज साहू—नरसिंहपुर (म० प्र०)
२६. डा० प्रकाश चन्द्र मिश्र—पटना (बिहार)
२७. श्री विनोद व्रजभूषण अग्रवाल—नागपुर (महाराष्ट्र)
२८. श्री केशरदेव भालोटिया—जरमुण्डी (बिहार)
२९. श्री धर्मवीर शर्मा—खण्डवाया (उत्तर प्रदेश)
३०. श्री शिवशंकर सुखदेव पाटील—शेगांव (महाराष्ट्र)
३१. श्री गजानन महाराज संस्थान—शेगांव (महाराष्ट्र)
३२. श्री दयाशंकर तिवारी—
लाल बाजार, सीवान (बिहार)
३३. श्री राजकुमार गडोडिया—अपर बाजार (रांची)
३४. कुमारी चुक चुक—बेलगाँव (कर्नाटक)
३५. डॉ० श्रीमती वीणा कर्ण—पटना (बिहार)
३६. डॉ० सम्पत पाटील—भदोल (महाराष्ट्र)
३७. श्री रमाशंकर राय—वाराणसी
३८. श्री आर० के० यादव—फैजाबाद
३९. कुमारी अल्पना सकलेचा—बम्बई
४०. श्री हिम्मत लाल रणछोड़दास शाह—बम्बई
४१. श्री नीरज गुप्ता—रायपुर (मध्य प्रदेश)
४२. डॉ० गीता देवी—४४, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४३. डॉ० शैल पाण्डेय—४१, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४४. श्री रामानन्द गुप्ता—बिसना (उत्तर प्रदेश)
४५. श्री निशीथ कुमार बोस—तपन प्रिंटिंग प्रेस, पटना
४६. श्री नरेश कुमार कश्यप—नागपुर (महाराष्ट्र)
४७. श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द समिति—अमरावती, महाराष्ट्र
४८. डॉ० दर्शन लाल—कुराली (पंजाब)
४९. श्री गोविन्द ढनढ़निया—कलकत्ता (प० बंगाल)
५०. श्री निखिल शिवहरे—दमोह (म० प्र०)
५१. श्री बी० भी० नागोरी—कलकत्ता (प० बंगाल)
५२. श्री पवन कुमार वर्मा—समस्तीपुर (बिहार)
५३. श्री चिनुभाई भलाभाई पटेल—खेड़ा (गुजरात)
५४. श्री एस० पी० डाबरीवाला—कलकत्ता (प० बं०)
५५. श्री गोपाल कृष्ण दत्ता—जयपुर (राजस्थान)
५६. श्री बृजेश चन्द्र वाजपेई—जयपुर (राजस्थान)
५७. श्री बनवारी लाल सर्राफ—कलकत्ता (प० बं०)
५८ श्रीमती गौरी चट्टोपाध्याय—एलन गंज, इलाहाबाद

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—७ अप्रैल—१९८८ अंक—४

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय।

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	३०० रु०
वार्षिक	२० रु०
रजिस्टर्ड डाक से	३५ रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजनेकी कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

'इसी जन्म में ईश्वर को प्राप्त करूँगा। तीन दिन में प्राप्त करूँगा। एक ही बार उनका नाम लेकर उन्हें प्राप्त कर लूँगा।' इस प्रकार की तीव्र भक्ति होनी चाहिए, तभी भगवत्प्राप्ति होती है। 'हो रहा है, हो जाएगा' इस प्रकार मन्द भक्ति ठीक नहीं।

(२)

बच्चे ने माँ से कहा, "अम्मा, जब मुझे भूख लगे तब नींद से जगा देना।" माँ बोली, "बेटा, भूख ही तुम्हें जगा देगी।"

(३)

स्वयं रामचन्द्रजी को समुद्र पार करने के लिए सेतु बाँधना पड़ा, परन्तु हनुमानजी केवल 'जय राम' कहकर एक ही छलाँग में अनायास समुद्र लाँघ गए। विश्वास में कितनी सामर्थ्य है!

(४)

भगवान् पर विश्वास न होने के कारण ही मनुष्य को इतना कष्ट भोगना पड़ता है।

(५)

मन्दोदरी ने अपने पति रावण से कहा था, "यदि तुम्हें सीता को रानी बनाने को इतनी चाह है तो तुम एक बार अपनी माया से राम का रूप धारण कर उसके सामने क्यों नहीं जाते?" तब रावण ने कहा, "छी! रामरूप का चिन्तन करते ही हृदय में ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है कि उसके आगे ब्रह्मपद भी तुच्छ जान पड़ता है, फिर पराई स्त्री की बात क्या?"

भजन

(गोड़ सारंग — ठुमरी)

भव-सागर-तारण-कारण हे, रवि नन्दन बन्धन खंडन हे,
शरणागत किंकर भीतमने, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

हृदिकंदर, तामस-भास्कर हे, तुमि विष्णु प्रजापति शंकर हे,
परब्रह्म परात्पर वेद भणे, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

मनवारण-शासन-अंकुश हे, नर त्राण तरे हरि चाक्षुष हे,
गुणगान-परायण देवगणे, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

कुल कुंडलिनी-घुम-भंजक हे, हृदि-ग्रंथि-विदारण कारक हे,
मन मानस चंचल रात्र दिने, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

रिपु-सूदन मंगल-नायक हे, सुख शांति वराभय दायक हे,
त्रय ताप हरे तव नाम गुणे, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

अभिमान-प्रभाव-विमर्दक हे, गतिहीन जने तुमि रक्षक हे,
चित शंकित वंचित भक्ति धने, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

तव नाम सदा शुभ साधक हे, पतिताधम-मानव-पावक हे,
महिमा तव गोचर शुद्ध मने, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

जय सद्गुरु ईश्वर प्रापक हे, भव-रोग-विकार-विनाशक हे,
मन येन हरे तव श्री चरणे, गुरुदेव दया कर दीन जने ॥

हिन्दू धर्म की सीमा

—स्वामी विवेकानन्द

('प्रबुद्ध भारत', अप्रैल, १८९९)

हमारा प्रतिनिधि लिखता है :

सम्पादक का आदेश था कि मैं हिन्दू धर्म-ग्रहण करने के प्रश्न पर स्वामी विवेकानन्द से भेंट करूँ। इस काम के लिए मुझे एक सन्ध्या को गंगा में बजरे की छत पर अवसर मिला। अँधेरा हो चुका था और हम रामकृष्ण मठ, बेलूड़ के बाँध पर रुक गये थे और स्वामीजी मुझसे बातें करने के लिए नीचे बजरे पर आये।

समय और स्थान, दोनों एक से सुहावने थे। ऊपर तारे थे और चारों ओर—बहती हुई गंगा; और एक ओर खड़ा था अस्पष्ट रूप से आलोकित भवन-मठ, जिसकी पृष्ठभूमि में ताड़ और ऊँचे छायादार वृक्ष थे।

मैंने आरम्भ किया, "स्वामी जी, इस प्रश्न पर मैं आपसे समालाप करना चाहता हूँ कि हिन्दू धर्म से जो लोग बाहर निकल गये थे, उनको वापस लेने के विषय में आपकी क्या राय है। क्या आपकी राय है कि उनको स्वीकार किया जाना चाहिए ?"

स्वामी जी ने कहा, "निश्चय ही वे लिये जा सकते हैं और लिये जाने चाहिए।"

वे एक क्षण गम्भीर, विचारमग्न बैठे रहे और फिर बोले, 'इसके अतिरिक्त यह भी है कि यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो हमारी संख्या घट जायगी। जब मुसलमान पहले-पहल यहाँ आये, तो कहा जाता है—मैं समझता हूँ, प्राचीनतम मुसलमान इतिहास-लेखक फरिश्ता के प्रमाण से—कि हिन्दुओं की संख्या साठ करोड़ थी। अब हम लोग बीस करोड़ हैं। और फिर हिन्दू धर्म में से जो एक व्यक्ति बाहर जाता है, उससे हमारा एक व्यक्ति केवल कम ही नहीं होता, वरन् एक शत्रु भी बढ़ता है।

"फिर जो हिन्दू मुसलमान अथवा ईसाई बने हैं, उनमें से अधिकतर या तो तलवार के भय से बने हैं या जो इस प्रकार बने हैं, उनके वंशज हैं। इन लोगों पर किसी प्रकार की अयोग्यता आरोपित करना स्पष्ट ही अन्याय होगा। क्या कहा, जन्मतः परायों के बारे में ? क्यों, जन्मतः परायों के तो समूहों के समूह अतीत में हिन्दू धर्म में लिये गये हैं, और यह उपक्रम आज भी चल रहा है।

"मेरी अपनी राय में, यह कथन न केवल आदिम जातियों, सीमांत के राष्ट्रों और मुसलमानी विजय से पहले के लगभग सभी विजेताओं पर लागू होता है, वरन् उन जातियों के लिए भी सत्य है, जिनकी पुराणों में विशेष उत्पत्ति हुई है। मैं समझता हूँ कि वे लोग बाहर के थे और इस प्रकार स्वीकृत कर लिये गये।

"निश्चय ही प्रायश्चित का अनुष्ठान अपनी इच्छा से धर्म-परिवर्तन करने वालों के अपने मातृधर्म में लौटने के लिए उपयुक्त है; पर उन लोगों के लिए जो विजय के द्वारा—जैसे कि कश्मीर और नेपाल में—हमसे अलग कर दिये गये हैं; अथवा उन नये लोगों के लिए, जो हम में सम्मिलित होना चाहते हैं, किसी प्रकार के प्रायश्चित की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।"

"पर ये लोग किस जाति के होंगे, स्वामी जी ?" मैंने पूछने का साहस किया, "उनकी कोई जाति होनी

चाहिए, नहीं तो वे हिन्दुओं के इस विशाल समाज में कभी भी अंगीकृत नहीं हो सकते। हम उन्हें देने के लिए उचित स्थान कहाँ खोजें ?"

स्वामी जी ने शान्त भाव से कहा, "लौटने वाले लोग, निश्चय ही अपनी पहली जाति प्राप्त कर लेंगे। और नये लोग अपनी बना लेंगे।" आगे उन्होंने कहा, "आपको याद होगा कि वैष्णव धर्म में ऐसा पहले किया जा चुका है। विभिन्न जातियों से आये हुए और बाहर के लोग एक झण्डे के नीचे मिले और उन्होंने एक अपनी जाति बना ली—और वह भी बहुत आदरणीय ! रामानुज से लेकर बंगाल के चैतन्य तक, सभी महान् वैष्णव आचार्यों ने यही किया है।"

"और ये नये लोग शादी-विवाह कहाँ करेंगे ?" मैंने मैंने पूछा।

"आपस में, जैसे कि अब करते हैं।" स्वामी जी ने शान्त भाव से कहा।

" और उनके नाम ? " मैंने पूछा, " मैं समझता हूँ कि बाहर से आनेवालों के और उन लोगों के, जो अहिन्दू नाम धारण किये हुए हैं, नाम फिर से रखे जाने चाहिए। आप उन्हें जाति के नाम देंगे अथवा और क्या ?"

"निश्चय ही", स्वामी जी ने विचारपूर्वक कहा, "नाम में बहुत कुछ है !" और इस प्रश्न पर वे अधिक नहीं बोले।

पर मेरे दूसरे प्रश्न से वे उद्दीप्त हो उठे ; मैंने पूछा, "स्वामी जी, क्या आप इन नव आगन्तुकों को बहुमुखी हिन्दू धर्म में से अपनी इच्छानुसार कोई धार्मिक विश्वास चुन लेने की स्वतंत्रता देंगे, अथवा आप उनके लिए एक धर्म निश्चित कर देंगे।"

"क्या आप यह पूछ सकते हैं ?" उन्होंने कहा, "वे अपने लिए आप चुनेंगे। क्योंकि जब तक मनुष्य स्वयं अपने लिए नहीं चुनता, हिन्दू धर्म की भावना ही नष्ट हो जाती है। हमारे धर्म का सार केवल इष्ट चुनने की स्वतंत्रता में है।"

मैं इस कथन को बहुत महत्वपूर्ण समझता हूँ, क्योंकि मैं समझता हूँ, मेरे सामने जो व्यक्ति है, और किसी जीवित व्यक्ति की तुलना में उसने, वैज्ञानिक और सहानुभूतिपूर्ण भावना से हिन्दू धर्म के सामान्य आधारों का अध्ययन करने में सबसे अधिक समय लगाया है ; और इष्ट की स्वतंत्रता स्पष्ट ही इतना बड़ा सिद्धांत है कि उसमें समस्त संसार को स्थान दिया जा सकता है।

पर अब बात दूसरे विषयों पर चली गयी ; और तब प्रेमपूर्वक नमस्कार के बाद इन महान् धर्मोपदेशक ने अपनी लालटेन उठायी और मठ में वापस चले गये, जब कि मैं गंगा के पथहीन पथ से उसकी विविध आकारों की नौकाओं के बीच निकलता-पैठता अपने घर, कलकत्ते वापस लौटा।

जिस किसी वस्तु से आध्यात्मिक, मानसिक या शारीरिक दुर्बलता उत्पन्न हो, उसे पैर की अंगुलियों से भी मत छुओ। मनुष्य में जो स्वाभाविक बल है, उसकी अभिव्यक्ति धर्म है। असीम शक्ति का स्प्रिंग इस छोटी सी काया में कुण्डली मारे विद्यमान है और वह स्प्रिंग अपने को फैला रहा है। ....यही है मनुष्य का, धर्म का, सभ्यता या प्रगति का इतिहास।

स्वामी विवेकानन्द

हिन्दूधर्म की विशेषताएँ (२)

—स्वामी सत्यरूपानन्द
प्रधानाचार्य, समाज सेवक शिक्षण मन्दिर
(बेलुड़ मठ)

हिन्दू धर्म पुरुषार्थवादी है—भाग्यवादी नहीं

हिन्दू-धर्म के कर्मवाद के सिद्धान्त को भली-भाँति न समझने के कारण कई लोग हमारे धर्म को भाग्यवादी कहते हैं। किन्तु कर्मवाद का मर्म समझने वाले लोग यह ठीक-ठीक जानते हैं कि इस विश्व में केवल हिन्दू धर्म ही ऐसा धर्म है जो वस्तुत; पुरुषार्थवादी है तथा वह व्यक्ति को उसके भाग्य का निर्माता मानता है। कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अद्वितीय ग्रन्थ गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने पुरुषार्थवाद का निस्संदिग्ध उद्घोष किया है। वे कहते हैं :—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।५।।
गी० अ० ६

"अपने द्वारा ही अपना उद्धार करे अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे क्योंकि (हम) आप ही अपने मित्र हैं तथा आप ही अपने शत्रु हैं।"

अर्थात् हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। हम अपने कर्मों और पुरुषार्थ द्वारा महानता की ऊँचाइयों तक उठ सकते हैं। दूसरी ओर यदि हम पुरुषार्थ न करें तो समस्त सुविधाएँ तथा सौभाग्य भी हमें महान नहीं बना सकते। हिन्दू धर्म कार्य कारण के अटल सिद्धान्त पर विश्वास करता है। बिना कारण के कोई कार्य हो ही नहीं सकता। कर्म ही कार्य का कारण है। जैसा कर्म होता है उसी के अनुसार उसका फल भी होता है। यह फल ही कार्य है। कर्म सिद्धान्त हमें बताता है कि यदि हम दीन-हीन, दुःखी दरिद्र हैं तो यह हम अपने कर्मों के कारण ही हैं। यदि हम कटिबद्ध होकर दृढ़ता पूर्वक पुरुषार्थ करते रहें तो एक न एक दिन सुखी सम्पन्न और सामर्थ्यशाली होकर रहेंगे। इसीलिए हिन्दू धर्म ऐसे किसी सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता कि हजारों वर्ष पूर्व किसी एक आदमी ने कोई पाप किया और तब से आज तक आने वाली पीढ़ियाँ उस आदमी के पाप का दण्ड भोग रही हैं और स्वयं पापी हो गयी हैं। उतना ही नहीं, मनुष्य कभी भी अपने कर्मों से पाप-मुक्त नहीं हो सकता। सातवें आसमान में बैठा ईश्वर ही यदि चाहे तभी उन्हें पाप-मुक्त कर सकता है अन्यथा उन्हें अनन्तकाल तक नरक ही भोगना पड़ेगा। हिन्दू धर्म दृढ़तापूर्वक कहता है। उठो! पुरुषार्थ का आश्रय लो! तुम स्वयं अपने भाग्य विधाता हो। स्वर्ग या नरक तुम्हारी मुट्ठी में है। तुम तो अमृत के पुत्र—अमरत्व के अधिकारी हो। उठो जागो! तुममें नर से नारायण हो जाने का सामर्थ्य सो रहा है, उसका आह्वान करो।

हिन्दू धर्म बुद्धिवादी है—अंधविश्वासी नहीं

हमारा धर्म नीति और धर्म के तत्वों तथा सिद्धान्तों पर निर्विचार अंधविश्वास करने का आग्रह नहीं करता, उल्टे वह बुद्धि और तर्क पर बल देता है। वह कहता है कि विचार और तर्क के द्वारा सत्य के सिद्धान्तों, तत्वों की परीक्षा करो, उनकी मीमांसा करो और तब यदि वे तुम्हें सत्य प्रतीत हों तो ही उन्हें स्वीकार करो। इन सिद्धान्तों को स्वीकार कर साधना में डूब जाओ तथा प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा उन्हें अपना बना लो। हमारे सुभाषितों में कहा है :—

बुद्धिर्यस्य बलंतस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।

जिसके पास बुद्धि है, उसी के पास बल है, निर्बुद्धि के पास बल कहाँ?

भगवान शंकराचार्य ने अपने एक ज्ञान प्रधान ग्रंथ का नाम ही विवेक चूड़ामणि रखा है। उस ग्रंथ में आत्मानुभूति के मार्ग बताये गये हैं। धर्मोपलब्धि के लिए मनुष्य में क्या-क्या योग्यताएँ होनी चाहिए। इन सब का इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णन है। उनमें प्रथम स्थान विवेक और बुद्धि को दिया गया हैं। वे लिखते हैं।

मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः।
अधिकार्यात्मविद्यायामुक्तलक्षणलक्षितः॥ वि० चू० मणि

'जो तीक्ष्ण बुद्धि हो, शास्त्रों का ज्ञाता हो तथा तर्क-वितर्क में कुशल हो ऐसे लक्षणों वाला पुरुष ही आत्म-विद्या का अधिकारी होता है।'

किसी धर्म ग्रन्थ में कोई बात लिखी है अथवा किसी विद्वान ने वह बात कही है इसलिए उस पर विश्वास कर ही लेना चाहिए, हिन्दू धर्म ऐसा नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि प्रत्येक सिद्धान्त जिस पर हम आचरण करना चाहते हैं उस पर हमें बुद्धि पूर्वक विचार करना चाहिए, तर्क की कसौटी पर उसे कस लेना चाहिए और इस प्रकार बुद्धि तथा तर्क दोनों दृष्टि से जब वह सिद्धान्त निर्दोष सिद्ध हो तब उसे स्वीकार कर उसके अनुसार आचरण करना चाहिए।

बुद्धिमान और विवेकशील होने के कारण ही हिन्दू धर्माचार्यों ने हिन्दू धर्मशास्त्रों पर विभिन्न भाष्य और टीकाएँ लिखीं। इतना ही नहीं, आचार्यों को अपना मत प्रतिपादन करने के लिए प्रस्थान त्रय(गीता,उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र) पर अपने मतानुसार टीका या भाष्य लिखना अनिवार्य हो गया। आचार्य शंकर ने अपने युग में इन पर अद्वैत मूलक भाष्य लिख कर अपने अद्वैत मत का प्रतिपादन और प्रचार किया। रामानुज आये, उन्होंने शंकराचार्य के मत से असहमति प्रकट की तथा अपना विशिष्टाद्वैत मत प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने भी इन पर भाष्य लिखे। आचार्य मध्व ने भी वही किया। हमारे युग में लोकमान्य तिलकजी ने गीता पर 'गीता रहस्य' नामक ग्रन्थ लिख कर आचार्य शंकर के मत से असहमति प्रकट की तथा कहा कि गीता में 'ज्ञान भक्ति युक्त कर्म योग' का प्रतिपादन है। ये सभी महापुरुष हिन्दुओं के लिए पूज्य एवं अनुकरणीय हैं। हिन्दुओं ने नंगी तलवार और जलती मशाल के बल पर कभी भी अपने धर्म तथा सिद्धान्तों का प्रचार नहीं किया। उन्होंने विचार एवं तर्क तथा सर्वोपरि अपने पवित्र शुद्ध आचरण तथा विश्वव्यापी प्रेम के द्वारा ही अपने धर्म और सिद्धान्तों का विश्व में प्रचार किया है। आचार्य शंकर ने शास्त्रार्थ द्वारा ही अपने मत का प्रचार किया था। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था — 'किसी बात पर इसलिए विश्वास न करो कि गौतम ने ऐसा कहा है किन्तु स्वयं उसका अनुभव करो और तब उस पर विश्वास करो। इस प्रकार हम देख पाते हैं कि हिन्दू धर्म अनुभूति सपन्न विचार और विवेक की दृढ़ चट्टान पर खड़ा है। इसीलिए यह अंधविश्वासी न हो कर विचारशील श्रद्धावान है।

हिन्दू धर्म विकासवादी है, रूढ़िवादी नहीं

विश्व के अधिकांश धर्म अपनी अपरिवर्तनीय उपासना प्रणाली, स्थिर धार्मिक मतवाद, विचित्र पौराणिक तथा तर्क के स्थान पर रूढ़िवादी दर्शन के कारण कालक्रम में रूढ़िवादी हो कर रह गये। उनके विकास की समस्त दिशाएँ अवरुद्ध हो गयीं और वह धर्म संकुचित कुंठित मतवाद हो कर रह गया। इसी कारण उनके अनुयायियों में भी धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता तथा अंध विश्वास का प्रभाव स्थायी हो गया। किन्तु हिन्दू धर्म इसके विपरीत एक प्रगतिशील एवं विकासात्मक धर्म है। इस धर्म में कोई ऐसी उपासना प्रणाली नहीं है जिसमें ब्रह्मनिष्ठ गुरु अधिकारी शिष्य की आवश्यकता के अनुसार आवश्यक परिवर्तन न कर सकें। कोई ऐसा मतवाद नहीं है जिस पर विचार और तर्क न किया जा सके। अथवा जिसकी तर्क संगत नयी व्याख्या नहीं की जा सके। डा० राधाकृष्णन ने हिन्दू धर्म की विकासशीलता के विषय में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दू विह्यू आफ लाइफ' में लिखा है;—

"हिन्दू धर्म गतिशील है स्थावर नहीं, यह क्रिया है फल नहीं' यह बढ़ती हुई परम्परा है कोई निर्धारित तत्व नहीं। इसका अतीत इतिहास हमें विश्वास दिलाता है कि विचार या व्यवहार किसी क्षेत्र में भविष्य में होने वाली किसी भी आकस्मिक घटना के अनुकूल यह अपने को ढाल सकेगा"

हिन्दू धर्म की इस उदार तथा प्रगतिशील वृत्ति का कारण हैं सत्य संधान के प्रति उसकी दृढ़ आस्था। हिन्दू धर्म यह मानता है कि सत्य, जिसकी उपलब्धि धर्म का लक्ष्य है, शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। उसका कभी अभाव नहीं होता तथा असत् का कभी अस्तित्व नहीं होता। गीता कहती है:—

न असतः विद्यते भावः न अभावः विद्यते सतः।

उभयो; अपि दृष्टः अन्तः तु अनयोः तत्वदर्शिभिः

गीता ॥ १६॥२

"असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इन दोनों को ही तत्वदर्शी पुरुषों द्वारा देखा गया है।"

इस सत्य की उपलब्धि ही धर्म जीवन का लक्ष्य है। मानव बुद्धि के विकास के साथ-साथ जिस प्रकार भौतिक सभ्यता का विकास हुआ है, हिन्दू धर्म यह मानता है कि उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी सत्य की उपलब्धि के नवीन मार्गों का विकास हो सकता है। उचित शिक्षा तथा संस्कार द्वारा जैसे व्यक्ति के चरित्र का संशोधन और विकास किया जा सकता है, उसी प्रकार अधिकारी पुरुषों द्वारा उचित धार्मिक शिक्षा, सम्यक् साधना तथा विवेक पूर्ण दर्शन के चिंतन मनन द्वारा धार्मिक क्षेत्र में भी नवीन पथों का सृजन एवं विकास किया जा सकता है। हिन्दू धर्म के इतिहास में ऐसे महापुरुषों की एक लम्बी शृंखला है जिन्होंने धर्म का पथ प्रशस्त किया है। भगवान बुद्ध, तीर्थंकर महावीर, आचार्य शंकर, रामानुज, वल्लभ, मध्व, गुरु नानक देवजी से गुरु गोविंद सिंहजी तक सिख गुरु, संत कबीर, गोस्वामी तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु तथा आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण परमहंस ऐसे ही अवतारी पुरुष हो गये हैं जिन्होंने हिन्दू धर्म के पथ को बहुमुखी तथा प्रशस्त किया है। अपनी इस विशेषता के कारण ही आज के इस वैज्ञानिक युग में भी विज्ञान की चुनौतियों को स्वीकार कर विज्ञान सम्मत धर्म के प्रतिपादन द्वारा हिन्दू धर्म विश्व की धर्म-चेतना का मार्ग दर्शन कर रहा है। पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्दजी ने इसी महान धर्म की घोषणा द्वारा विश्व में हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दू देश की विजय वैजयन्ती फहरायी थी।

हिन्दू धर्म समन्वयवादी है, सम्प्रदायवादी नहीं

हिन्दू धर्म एक महासागर के समान है जिसमें विभिन्न धर्म और सम्प्रदायों की सरिताएँ आकर मिलती हैं और एक हो जाती हैं। किंतु महासागर अविचलित और गंभीर ही रहता है। शिवमहिम्नःस्तोत्र में कहा गया है:—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपति मतं वैष्णवमिति

प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नाना पथ जुषां

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

वेदत्रय, सांख्य, योग, पशुपति मत, वैष्णव आदि विभिन्न शास्त्रों में यही श्रेष्ठ एवं शुभकर कहा गया है। इसी लिए लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार सरल या वक्र मार्गों से जाते हैं किंतु नदियों की जैसे समुद्र ही एक मात्र गति है उसी प्रकार सभी मनुष्यों की एक मात्र गति हे प्रभु, तुम्हीं हो।

हिन्दू धर्म यह मानता है कि जिस प्रकार सांसारिक व्यवहारों तथा विषयों में मनुष्यों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं उसी प्रकार धर्म के क्षेत्रों में भी मनुष्य की रुचि भिन्न-भिन्न है। किंतु विभिन्न सांसारिक रुचियों के होते हुए भी मानवता के नाते जैसे मनुष्य एक है उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में विभिन्न रुचि वाला होकर भी मनुष्य आध्यात्मिक साधक के रूप में एक है। सभी साधक जो

निष्ठा पूर्वक साधना में लगे हैं उसी एक परमात्मा की ओर जा रहे हैं जो अनंत नामों और रूपों में हमारे सामने विराजमान है। वेद घोषणा करते हैं:— 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' वह महान सत्य एक ही है, विद्वान गण उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं।

हिन्दू धर्म ईश्वर की एकता तथा बहुरूपता में विश्वास करता है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में साधक ईश्वर के किसी विशेष नाम तथा रूप का आश्रय ले कर साधना करता है। यह साधना पद्धति हिन्दू धर्म में 'इष्ट देव' की साधना कही जाती है। एक विशेष नाम रूप में निष्ठा रख कर वही साधक जब अपनी साधना में उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है तब धीरे धीरे वह अनुभव करने लगता है कि विभिन्न नाम रूपों में भासित होने वाला तत्व एक अखंड अद्वय तत्वके रूप में सर्वत्र विराजमान है। अनन्त रूपों में भासमान इस ईश्वर की पूजा भी अनन्त प्रकारों से की जा सकती है। हिन्दू धर्म की यह घोषणा है कि मनुष्य का प्रत्येक कर्म पूजा हो सकता है, ईश्वर प्राप्ति की साधना हो सकता है, यदि वह उन कर्मों को निष्काम भाव से केवल प्रभु प्रीत्यर्थ करे। गीता निस्संदिग्ध शब्दों में घोषणा करती है :—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। गीता अ० १८
स्व कर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वं मिदं ततम् ।
स्व कर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

"अपने अपने (स्वाभाविक) कर्मों में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि(परमार्थ) प्राप्त कर लेता है; किस प्रकार मनुष्य अपने अपने कर्मों में लगा हुआ सिद्धि प्राप्त कर लेता है वह सुन।"

"जिस परमात्मा से सब भूतों की उत्पत्ति हुई है तथा जिससे यह संपूर्ण जगत व्याप्त है उस परमेश्वर की अपने कर्मों द्वारा पूजा कर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।"

इतना विशाल तथा उदार दृष्टिकोण है हिन्दू धर्म का, उपासना प्रणाली के संबंध में! हिन्दू धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष का पक्ष नहीं लेता, वही सभी सम्प्रदायों को यथोचित स्थान देता है; उन्हें स्वीकार करता है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्दजी ने ११ सितम्बर १८९३ ई० के दिन शिकागो की धर्म महासभा में गुरु गंभीर घोषणा की थी :—

"मुझे उस धर्म के अनुयायी होने का गर्व है जिसने विश्व को सहिष्णुता एवं विश्व स्वीकृति सिखायी है। हम केवल विश्व सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते अपितु सभी धर्मों को सत्य स्वीकार करते हैं।"

असाम्प्रदायिकता, धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की इससे उदार तथा महान परिभाषा और क्या हो सकती है? इन तथ्यों से यह स्वयं सिद्ध है कि हिन्दू धर्म संपूर्ण असाम्प्रदायिक एवं समन्वयवादी है। ऐसे महान एवं उदार धर्म को साम्प्रदायिक कहना ही सबसे बड़ी साम्प्रदायिकता तथा मानवता के प्रति अपराध है।

हिन्दू धर्म त्यागवादी है—भोगवादी नहीं

भगवान श्रीरामकृष्ण से किसी भक्त ने एक बार पूछा था—महाराज! गीता का सार क्या है? उन्होंने कहा—लगातार दस बार गीता गीता कहने पर जो होता है वही गीता का सार है। अर्थात् लगातार गीता गीता कहने पर उच्चारण तागी (त्यागी) हो जाता है। बस यही गीता का सार है। इसी प्रकार एक शब्द में हिन्दू धर्म का सार जानना चाहें तो वह भी होगा 'त्याग' क्षण-भंगुर संसार का त्याग, स्वार्थ का त्याग, इन्द्रिय लोलुपता का त्याग। त्याग की जितनी महिमा हिन्दू धर्म शास्त्रों में गायी गयी है, त्याग तथा त्यागी को जितना सम्मान हिन्दू समाज ने दिया है उतना कदाचित विश्व के अन्य किसी धर्मशास्त्र या समाज ने नहीं दिया है। उपनिषदों में त्याग की महिमा गायी गयी है। गीता में तो त्याग को तत्काल शांति देने वाला कहा गया है।

श्रेयः हि ज्ञानम् अभ्यासात् ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागात् शान्ति अनन्तरम् ॥
गीता ॥१२॥ १२

"अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्म फलों का त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि त्याग से तत्काल शांति प्राप्त होती है।"

हमारे धर्म के सभी आचार्य; ऋषि-मुनि, साधक संन्यासी यहाँ तक कि सद्गृहस्थ भी त्याग और सेवा के प्रतीक रहे हैं। रन्तिदेव जैसे कितने त्यागियों की अमर गाथा से हमारा धार्मिक साहित्य सुशोभित है। यही वह धर्म है, यही वह देश है जहाँ राजकुमार वर्धमान तथा राजकुमार सिद्धार्थ ने राज्य वैभव त्याग कर संन्यास ग्रहण किया था। इसी धर्म के अनुयायी सम्राट हर्ष ने धर्म कार्यों के लिए अपना राजकोष खाली कर दिया था। इसी देश की त्यागी संतानों ने सुदूर चीन, वर्मा, मलाया, स्याम, श्रीलंका तथा पश्चिम में ग्रीक यूनान आदि सुदूर देशों में आर्य धर्म दर्शन और संस्कृति का प्रचार किया था। यही वह देश है जहाँ संन्यासी प्रवर स्वामी विवेकानन्द की गाड़ी को राजा महाराजाओं ने खींचा था। यह त्याग वृत्ति ही हमारे धर्म का प्राण है।

किन्तु व्यथित हृदय से आज हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस महान धर्म के अनुयायी आज आत्म विस्मृत हो कर त्याग और सेवा के महान आदर्श को छोड़ कर भोग तथा स्वार्थ की ओर प्रवृत्त हो पर-मुखापेक्षी हो रहे हैं। बन्धुओ! उपनिषद् हमारा आह्वान करती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्

उठो! जागो! और गुरुजनों से बोध प्राप्त करो। बन्धुगण! आइए हम अपने हृदय में गर्व का अनुभव करें कि हमने इस महान धर्म के अनुयायी के रूप में जन्म लिया है। गर्व करें कि हम उन ऋषियों की संतान हैं जिन्होंने संपूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब माना था। गर्व करें कि हम उस जाति के वंशधर हैं जिसने विश्व को 'शस्त्र' नहीं 'शास्त्र' से जीता था। हम उन माताओं की संतान हैं जिन्होंने समर्थ रामदास, सन्त ज्ञानेश्वर, महाप्रभु चैतन्य, परमहंस श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द को जन्म दिया था। गर्व करें अपने उस गौरवशाली अतीत पर जिसने विश्व में सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान की प्रथम किरण फैलायी थी।

आइए, हम अपने धर्म, अपनी जाति, तथा अपनी संस्कृति की महानता का अनुभव कर हृदय की समस्त दुर्बलताओं को दूर कर दें एवं दृढ़ प्रतिज्ञ होकर कटिबद्ध हो कर विश्व के कल्याण के लिए अपने महान धर्म की विजय वैजयन्ती विश्व गगन में पुनः एक बार फहरा दें। भगवान नारायण की कृपा और ऋषियों का आशीर्वाद हमारे साथ है ही! ।इति।

धर्म का मूल उद्देश्य है—मनुष्य को सुखी करना। किन्तु परजन्म में सुखी होने के लिए इस जन्म में दुःख-भोग करना कोई बुद्धिमानों का काम नहीं है। इस जन्म में ही, इसी मुहूर्त से सुखी होना होगा। जिस धर्म के द्वारा यह सम्पन्न होगा, वही मनुष्य के लिए उपयुक्त धर्म है।

—स्वामी विवेकानन्द

सती समस्या-एक नवीन दृष्टिकोण

—स्वामी हर्षानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
इलाहाबाद

भूमिका

हाल ही में, राजस्थान के एक गाँव में मृत पति की चिता पर एक युवती नववधू के आत्म-बलिदान ने संपूर्ण भारतीय समाज में विक्षोभ की लहरों को जगा दिया है। केवल कुछ मुट्ठी भर लोगों ने ही बेसुरा राग छेड़ा है। परन्तु मृत्यु का वरण करने वाली महिला ने निश्चय ही अपने को एक राष्ट्रीय अथवा सामाजिक समस्या "सती-समस्या" के रूप में पुनर्जीवित किया है, जिसे बहुत पहले ही सदा के लिए सुलझा हुआ मान लिया गया था। आधुनिक मानस के लिए यह एक भयानक चुनौती है और इस चुनौती का सामना समुचित ढंग से करना होगा किन्तु इसे हमें एक ठण्डे, शांत और विश्वासप्रद ढंग से करना होगा, न कि असंयमित भाषा में व्यक्त उन्मादी भावावेग से।

प्रथा का इतिहास

आरम्भ में ही यह जान लेना होगा कि विधवा-दहन भारत के हिन्दुओं की अपनी प्रथा नहीं थी। स्क्रैडर आदि यूरोपीय विद्वानों (देखिए उनकी पुस्तक Pre historic Antiquities of the Aryan People) के अनुसार इसकी उत्पत्ति सामान्यत: मानवजाति के प्राचीनतम धार्मिक दृष्टिकोणों और अंधविश्वासों से हुई है। यह प्रथा प्राचीन ग्रीक, जर्मन, स्लाव एवं अन्य जातियों में प्रचलित थी। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The wonder that was India' (पृ० १८८) में ए० एल० बाशम कहते हैं कि यह प्रथा अत्यन्त प्रारंभिक संस्कृतियों में विद्यमान थी और आगे लिखते हैं कि उर एवं प्राचीन चीन के राजाओं तथा कुछ आरंभिक भारत-यूरोपीय लोगों में इसका अस्तित्व था। वे व्यक्ति के मृत शरीर के साथ उसकी विधवा पत्नी, घोड़े एवं अन्य अधिकृत वस्तुओं को जला देते थे या दफना देते थे, जिससे वे सारी वस्तुएँ जो उसे प्रिय थीं और आवश्यक थीं, उसे दूसरी दुनिया में भी मिल सकें।

किन्तु भारत में, ऋग्वेद के समय तक यह प्रथा प्रचलन-बाह्य हो गयी थी और त्याग दी गयी थी। इसके एक मंत्र में (ऋ० १०.१८.८) विधवा के उस आचरण का उल्लेख आता है जिसमें वह अपने पति की चिता पर, उसके जलाये जाने के पूर्व, लेटती है और फिर उतर आती है। इस प्रकार मात्र एक प्रतीकात्मक अनुष्ठान के रूप में ही इसका अस्तित्व रह गया था।

एक मात्र अपवाद विष्णु धर्मसूत्र के अतिरिक्त प्रसिद्ध मनुस्मृति सहित अन्य किसी ग्रंथ में यह विहित नहीं है। महाकाव्यों में मृतक राजा की रानियों एवं अन्य पत्नियों के अपने पति की चिता पर स्वयं को जलाने की कुछ घटनाओं का उल्लेख है। यह एक ऐच्छिक कार्य था और अधिक स्तुत्य नहीं था। पूर्ण संभावना है कि यह पूर्णत: ऐच्छिक प्रथा केवल राजाओं और अभिजात वर्ग में ही विद्यमान थी और लोक में सामान्य स्तर पर कभी प्रचलित नहीं रही। वस्तुत: धार्मिक ग्रंथों ने सहगमन अथवा आत्मोत्सर्ग की अपेक्षा विधवाओं के सदाचार एवं पवित्र जीवन को कहीं अधिक श्रेष्ठ मान कर उसकी सराहना की है।

किन्तु यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि काल क्रम से यह प्रथा अधिक सार्वभौमिक और सभी वर्ग के लोगों में अधिक व्यापक रूप में प्रचलित होती गयी। अज्ञ जनता में व्याप्त अंधविश्वास एवं निहित आर्थिक स्वार्थों द्वारा उसका कुशल शोषण ही इसका मूल कारण है। यह इस

तथ्य से सिद्ध होता है कि सती होने की घटनाएँ बंगाल में अधिक घटीं, जहाँ संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में स्त्रियों का हिस्सा भारत के अन्य भागों की तुलना में कुछ अधिक था। परिणामतः ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है, जहाँ अनिच्छुक स्त्रियाँ, यहाँ तक कि अबोध बाल-विधवाएँ भी अत्यन्त अमानवीय तरीके से बलात् जीवित जला दी गयीं। यह स्वाभाविक ही था कि समाज के बहुत बड़े वर्ग ने राजा राममोहन राय जैसे प्रबुद्ध लोगों के नेतृत्व में इस गर्हित प्रथा के विरुद्ध विद्रोह किया और इस पर प्रतिबन्ध लगाया।

यह नहीं है कि राजा राममोहन राय पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस जघन्य प्रथा के विरुद्ध संघर्ष किया। मेधातिथि (१०वीं शताब्दी) के समान धर्म ग्रन्थों के प्राचीन व्याख्याता और बाण (६वीं शताब्दी) जैसे साहित्यिक क्षमता सम्पन्न व्यक्ति ने भी बिना किसी संशय के इस प्रथा की निन्दा की। तन्त्रों के सभी व्याख्याता तीव्र रूप में इस प्रथा के विरुद्ध थे। किन्तु, किसी कारणवश, उनके प्रयत्न उस सीमा तक सफल नहीं हो सके, जहाँ तक उन्हें होना चाहिए था।

एक नवीन दृष्टिकोण

इस प्रथा पर नियंत्रण के विषय में दो मत नहीं हैं। परन्तु वे लोग, जो उत्साहपूर्ण ढंग से इसके विरोध में प्रचार कर रहे हैं, कभी-कभी एकदम इस प्रथा के ही विरुद्ध वक्तव्य दे बैठते हैं। जहाँ तक बलात् दहन का सम्बन्ध है, कोई भी शब्द इसकी निन्दा के लिए पर्याप्त नहीं है। वे प्रथम श्रेणी की हत्याएँ हैं। अतः उन पर देश के कानून की लम्बी और शक्तिशाली भुजाओं को अपना पूर्ण प्रभुत्व रखना चाहिए।

लेकिन, निश्चय ही, सभी सतियाँ बलात् नहीं हुई है। सन् १६४१ ई० से १६६७ ई० के मध्य भारत की यात्रा करने वाले जीन बैप्टीस्ट टेवेर्नियर नामक फ्रांसीसी यात्री ने सुस्पष्ट ढंग से वर्णन किया है कि स्वेच्छया अंतिम रूप से सती होने के पूर्व कैसे एक युवती विधवा ने परीक्षा के तौर पर, जलती हुई मशाल में अविचलित भाव से अपनी उँगली जला डाली। कोई भी उसे इससे विरत नहीं कर सका। वह यह भी वर्णन करता है कि सती होने से रोकने के लिए एक कमरे में बंद कर देने पर भी कैसे वेल्लोर (अब तमिलनाडु में) के राजा की ग्यारह रानियाँ तीन घण्टे बाद मृत पायी गयीं। उनके शरीर पर फाँसी अथवा विष अथवा शारीरिक आघात का कोई चिह्न नहीं था।

बर्बर आक्रमणकारी लुटेरों से अपने सतीत्व की रक्षा के लिए राजपूत राजकुमारियों के सामूहिक जौहर की प्रथा अब एक पूर्णतः प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्य है।

चाहे यह प्रथा अपने आप में उचित हो या अनुचित, किन्तु जिसकी हमें यहाँ सराहना करनी चाहिए वह है, जीवन की अपेक्षा अपने पालित आदर्श की अधिक परवाह करने वाली इन गरिमामयी नारियों द्वारा प्रदर्शित भीषण शौर्य। सतीत्व एवं पवित्रता ही उनके लिए सब कुछ थे और इनके समक्ष जीवन तृणवत् था। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान डा० पी० वी० काणे की उनकी चिर-स्थायी कृति The History of Dharma Shastras (Vol II pt.I, p. 636) से उद्धृत करना उचित होगा।—"आधुनिक भारत सती प्रथा के औचित्य को प्रमाणित नहीं करता, किन्तु यह एक टेढ़ी मानसिकता है, जो स्त्रियोचित आचरण के अपने आदर्शों की रक्षा के लिए सती अथवा जौहर पालन करने के भारतीय स्त्रियों के शांत और अडिग शौर्य के लिए प्रशंसा और श्रद्धा व्यक्त करने पर आधुनिक भारतीयों की भर्त्सना करती है। यदि अंग्रेज अपने उन पूर्वजों पर, जिन्होंने एक चौथाई पृथ्वी को लोभ से छीन लिया, गर्व अनुभव कर सकते हैं, अथवा यदि फ्रांसीसी अपने सम्राट नेपोलियन पर गर्व कर सकते हैं, जिसने संपूर्ण यूरोप पर आधिपत्य करने का प्रयास किया और तब भी वे निन्दा और उपहास के पात्र नहीं बनाये जाते, तो कोई कारण नहीं है कि क्यों बेचारे भारतीय उन बलिदानों के लिए सम्मान व्यक्त न करें जो उनकी महिलाओं द्वारा अतीत में किये गये। यद्यपि वे स्वयं उस नियम की निन्दा कर सकते हैं, जो

इस प्रकार के भयंकर त्याग और यातना की माँग करता है।"

सरल समाधान

हम अपने ध्यान को अब समस्या के समाधान की ओर मोड़ें। सती शब्द धातु सत् से आया है, जिसका अर्थ है सत्य। अतः इसका वस्तुतः अर्थ हुआ, वह स्त्री, जो अपने आदर्शों के प्रति सच्ची हो। और भारतीय परंपरा ने पातिव्रत्य और व्यक्तिगत पवित्रता को नारीत्व के उच्चतम आदर्श के रूप में स्थापित किया है, यहाँ तक कि यह पुरुषों के लिए भी मान्य है। कोई भी स्त्री जो इस आदर्श की ऊँचाई तक उठ गयी है, सती है। इस आदर्श का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भगवान शिव की पत्नी स्वयं सती हैं, जो दक्षायनी के नाम से भी जानी जाती हैं। जब उनके पिता दक्ष ने उनका और उनके पति का यज्ञ-भूमि में एक बड़ी सभा के समक्ष अपमान किया, तो प्रतिवाद में उन्होंने अपने शरीर-त्याग का संकल्प किया। भागवत (४·४) में दिये गये विवरण के अनुसार वे गहन समाधि में बैठ गयीं और योगाग्नि अथवा यौगिक समाधि से उत्पन्न अग्नि में अपने शरीर को दग्ध कर डाला।

यह कथा हमारे सम्मुख दो आश्चर्यजनक तथ्यों को उद्‌घाटित करती है, सती ने स्वेच्छा से योग में अपने शरीर का त्याग किया और यज्ञ-अग्नि में नहीं कूदीं, जैसा कि प्रायः प्रचलित पौराणिक कथाओं में वर्णित है और, उनके पति शिव उस समय जीवित थे।

अतः अपने और अपने पति के अपमान को सहन करने में अक्षम होने पर यदि कोई स्त्री यौगिक समाधि में अपनी देह त्यागने में समर्थ है, तो किसी को उसे ऐसा करने से मना नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, यदि अपने प्रिय पति की मृत्यु पर वह इस रीति से अपना शरीर त्यागना चाहती है तो भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए और वस्तुतः वह स्वयं मूल सती की तरह सम्मानित होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त अन्य सभी विकल्पों का वर्जन करना चाहिए। जबकि सुख-मृत्यु और आत्महत्या तक दण्डित हैं, तो बलात् सती क्यों नहीं? किन्तु हम एक अधिक मौलिक प्रश्न पर आते हैं। आखिर एक विधवा को क्यों मर जाना चाहिए? केवल इसलिए कि उसके पति की मृत्यु हो गयी है? हमारे पवित्र शास्त्र घोषणा करते हैं कि मानव-जन्म अत्यधिक मूल्यवान है और इसका पूर्णतः उपयोग करना चाहिए जीवन के अन्तिम लक्ष्य के प्रत्यक्षीकरण के लिए, अर्थात् आत्मानुभूति और फलस्वरूप देहान्तरगामी स्थिति का अवरोध करने के लिए।

और जहाँ तक जीवन के इस लक्ष्य और इसकी उपलब्धि की संभावना का संबंध है, पुरुष और स्त्री दोनों सर्वथा समान माने गये हैं। वस्तुतः वेदान्त शास्त्र स्त्री पुरुष के अन्तर को ही मूल रूप में नहीं मानते, बल्कि जीवात्मा जो निराकार और लिंगभेद रहित है, के निजी कर्मों के आनुषंगिक रूप में स्वीकार करते है।

सचमुच कहा जाय तो एक विधवा स्त्री के लिए आध्यात्मिक उन्नति के कहीं अधिक सुयोग हैं, यदि केवल वह अपने जीवन को सच्चे अर्थ में ले सके। वस्तुतः एक विधवा के व्यक्तिगत जीवन पर आरोपित कठोर नियम एक संन्यासी अथवा योगी की आचार-संहिता के सन्निकट है और इस पर इस दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए। स्वयं श्रीरामकृष्ण की पत्नी श्री सारदादेवी के अतिरिक्त ठाकुर की अनेक महिला शिष्याएँ, जिनमें से कई बाल विधवाएँ और जीवन की दुःखद घटनाओं की शिकार थीं हमारे समक्ष भारतीय नारीत्व के महिमामय उदाहरण स्थापित करती हैं।

उपसंहार

हम इससे इनकार नहीं करते कि मध्ययुग में हिन्दू समाज ने अपनी स्त्रियों के साथ बड़ा ही निष्ठुर व्यवहार किया। बालविवाह की असंगत प्रणाली के परिणामस्वरूप बाल-विधवाओं की समस्या, शिक्षा के अभाव के फलस्वरूप कुसंस्कार, विधवाओं को संयुक्त परिवार में

जीवन पर्यन्त दास की भाँति काम करने को बाध्य करने वाले अनेक प्रकार के अन्यायपूर्ण प्रतिबन्ध, सम्पूर्ण आर्थिक पराधीनता, इन सभी ने स्त्रियों के मन में एक ऐसा उदासीन रुख उत्पन्न किया, जिसने बहुधा उन्हें बाध्य कर दिया कि वे जीवन में प्रतिक्षण मरने की अपेक्षा सती होना पसन्द करें। अग्निवत् गुरु विवेकानन्द की अग्निवत् शिष्या भगिनी निवेदिता जैसे लोगों द्वारा स्त्री के क्षेत्र में किये गये प्रयत्नों ने विगत शती में निश्चय ही इन अभागी स्त्रियों के मन में आशा की ज्योति जगायी थी।

अब स्वाधीनता के पश्चात्, जब लगभग जीवन का प्रत्येक क्षेत्र स्त्रियों के लिए खुल गया है और जब प्रबुद्ध स्त्रियों द्वारा संचालित कई महिला संस्थाएँ उनके कल्याण के लिए कार्य कर रही हैं, सामान्यतः स्त्रियों को और विशेषकर निराश्रित विधवाओं को हताश होने की आवश्यकता नहीं है।

यदि सामान्यतः भारतीय समाज और विशेषतः हिन्दू समाज इस भाव का उत्साहपूर्वक प्रचार कर सके कि स्त्रियाँ अपने मृत पति की चिता पर मरने की अपेक्षा जीवन में अधिक श्रेष्ठ कार्य कर सकती हैं, तो सती समस्या एक स्वाभाविक मौत मर जायगी।

एक प्रसिद्ध कहावत है कि विवाह स्वर्ग में रचित होते हैं। यदि ऐसा है तो हमारी विधवा बहनें और माताएँ प्रतीक्षा करें कि जिस शक्ति ने विवाह रचाया, वही स्वर्ग में उसे पुनरुज्जीवित अथवा समाप्त करे, किन्तु जब तक उस स्वर्ग में न जाएँ, तब तक यहाँ आनन्द से जीएँ।

उन लोगों के संबंध में जो सोचते हैं कि कि सती प्रथा ने हमारे देश की विधवाओं की समस्या का "समाधान" कर दिया है और इसलिए उसे जारी रहना चाहिए अथवा पुनः प्रचलित करना चाहिए, हम विनम्रता से सुझाव देंगे कि इस तरह की अनेक समस्याओं का हम "सती विधि" से "समाधान" कर सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि सिर ही नहीं रहेगा तो सिर दर्द भी नहीं होगा, सिर काट कर सिर दर्द का सर्वदा के लिए उपचार किया जा सकता है।

हम केवल प्रार्थना करते हैं कि हमारा समाज इतना बुद्धिमान न बने।

हिन्दू का खाना धार्मिक, उसका पीना धार्मिक, उसकी नींद धार्मिक, उसकी चाल-ढाल धार्मिक, उसके विवाहादि धार्मिक, यहाँ तक कि उसकी डकैती करने की प्रेरणा भी धार्मिक है। ·········हरएक राष्ट्र का विश्व के लिए एक विशिष्ट कार्य होता है, और जब तक वह आक्रान्त नहीं होता, तब तक वह राष्ट्र जीवित रहता है—चाहे कोई भी संकट क्यों न आये। पर ज्यों ही कार्य नष्ट हुआ कि राष्ट्र भी ढह जाता है।

—स्वामी विवेकानन्द

साधना के अन्तराय (२)

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

पतंजलि—वर्णित बाधाएँ :—

व्याधि—स्त्यान—संशय—प्रमाद—आलस्य—अविरति—भ्रान्ति दर्शन—अलब्धभूमिकत्व—अनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ पा०यो० सू० १:३० ।

व्याधि :—जरा और मृत्यु की तरह रोग भी मानव शरीर का धर्म है। सभी का शरीर न्यूनाधिक मात्रा में रोग ग्रस्त अवश्य होता है। कुछ लोगों के शरीर सबल होते हैं और कम रोग ग्रस्त होते हैं, तो कुछ लोग अधिक रोगग्रस्त होते हैं। अनिवार्य होते हुए भी स्वास्थ्य के नियमों को जानकर इनसे अपनी रक्षा की जा सकती है।

रोगों की उत्पत्ति के दो कारण होते हैं, एक बाह्य और दूसरा अन्तर। हमारे चारों ओर के वातावरण में रोग के असंख्य कीटाणुओं के रहते हुए भी हम रोगग्रस्त इसलिए नहीं होते कि हमारे भीतर की रोग-प्रतिकार शक्ति (Immunity) अक्षुण्ण बनी रहती है। लेकिन जब किन्हीं कारणों से यह शक्ति कम हो जाती है, तो हम कीटाणुओं के शिकार हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि रोगोत्पत्ति में हम भी एक कारण हैं। अतः हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है स्वास्थ्य के नियमों का यथा संभव पालन करना।

शरीर और मन का सम्बन्ध—देह और मन एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहते हैं। कहावत है "A healthy mind in a healthy body", "अर्थात् स्वस्थ देह में स्वस्थ मन होता है। इसका विपरीत भी, कि "मन के स्वस्थ होने पर देह भी स्वस्थ रहती है" उतना ही सत्य है। शरीर के अस्वस्थ होने पर चिन्ता व्यग्रता, अनवधानता, भय आदि मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं। शारीरिक रोग एक सामान्य व्यक्ति के सामाजिक सन्तुलन को बिगाड़ने में समर्थ है। दूसरी ओर मानसिक चिन्ता, भय, क्रोध एवं व्यग्रता आदि मनोविकार अनेक शारीरिक रोगों के कारण होते हैं। कुछ रोगों का तो एक मात्र कारण मानसिक तनाव ही होता है। ऐसी स्थिति में साधक के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह एक ऐसी स्वस्थ मन: स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करे जिससे वह अधिक से अधिक मानसिक स्थैर्य बनाये रख सके। शारीरिक रोग होने पर उसका यथा-योग्य उपचार कराते हुए भी मन को व्यग्र नहीं होने देना चाहिए। स्वामी तुरीयानन्द जी कहा करते थे :" रोग जाने, शरीर जाने, मन तुम आनन्द में रहो।" यही साधक के लिए उपयुक्त दृष्टिकोण है; जो सभी महापुरुषों के जीवन में पाया जाता है। न तो देह की उपेक्षा करनी चाहिए और न ही उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना चाहिए।

व्याधि का आध्यात्मिकता से सम्बन्ध—शारीरिक रोग का मानसिक पवित्रता अथवा पाप-पुण्य से सीधा सम्बन्ध न होते हुए भी ऐसा माना जाता है कि पाप करने से देह रोग-ग्रस्त हो जाती है। भोग भी रोग के कारण माने गये हैं। राजयक्ष्मा को अत्यधिक भोग-निरत राजन्यवर्ग का रोग माना गया है। शंकराचार्य भी कहते हैं :"सुखतः क्रियते राजाभोगः पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः"। पाप रोग का कारण है, इस कथन की सत्यता को सिद्ध करना कठिन है। लेकिन महापुरुषों के कथन से इसके पक्ष में प्रमाण प्राप्त होते हैं। श्री रामकृष्ण के गले का कैन्सर गिरीशचन्द्र घोष के पापों को स्वीकार करने के कारण हुआ था। माँ सारदा को अपवित्र लोगों

के द्वारा चरण स्पर्श करने से पैरों में तीव्र जलन होती थी। अपने पैर के दर्द तथा अन्य रोगों के कारण वे भक्तों के पापों को स्वीकार करना बताती थीं। ईसाई धर्ममत में तो रोग को पाप का प्रतीक ही माना है। वस्तुतः कुविचार, लोभ, मोह, काम आदि वृत्तियाँ मानसिक रोग ही हैं। इनकी वृद्धि अन्ततोगत्वा यदि शारीरिक रोग का रूप ले लें तो आश्चर्य ही क्या है? स्वस्थ मनयुक्त व्यक्ति का बाह्य जीवन भी सन्तुलित होगा, वह मिताहारी एवं युक्ताहार-विहारी होगा—और फलतः शारीरिक दृष्टि से भी अधिक स्वस्थ होगा।

स्त्यान—चित्त की अकर्मण्यता को स्त्यान कहते हैं। उत्तम कर्त्तव्य ज्ञान होते हुए भी चित्त की अत्यधिक चंचलता के कारण साधना का प्रारंभ न करना अथवा प्रारंभ करके उसे बनाये रखने की इच्छा न होना ही स्त्यान है। योग सम्बन्धी रुचि का अभाव, स्वयं को साधना के अयोग्य समझना, शक्तिशाली मन एवं स्वस्थ शरीर के होते हुए भी यह सोचना कि मुझसे कुछ नहीं होगा, मैं असमर्थ हूँ—स्त्यान के लक्षण हैं। इन्हें प्रयत्न पूर्वक दूर करना चाहिए। मन को प्रबोध करके, प्रेरणा-प्रद साहित्य का अध्ययन कर इसे दूर करना चाहिए।

संशय—"उभय दिक्स्पर्शी ज्ञान" संशय कहलाता है। जब किसी विषय में "यह ऐसा है या ऐसा नहीं है—इस प्रकार का द्वन्द्वात्मक ज्ञान हो तो यह संशय का लक्षण है।" "संशयात्मा विनश्यति" क्योंकि वह न तो स्वार्थ ही साध सकता है और न पुरुषार्थ ही। संशय लक्ष्य, साधन एवं साधक तीनों विषयक हो सकता है। लक्ष्य इहकाल है या परकाल, भोग है या त्याग, स्वार्थ है या परमार्थ, साधन प्रवृत्ति है या निवृत्ति, कर्म है या कर्म-त्याग; एवं मैं साधक इसे कर सकूँगा या नहीं—इस तरह के विभिन्न संशय हो सकते हैं। यह संशय साधक के जीवन में महान अनिश्चतता उत्पन्न कर उसके वीर्य एवं पुरुषार्थ का नाश कर देता है। अतः प्रारंभ से ही लक्ष्य एवं मार्ग के विषय में स्पष्ट धारणा होनी चाहिए।

साधना की एक अवस्था में भोग एवं योग के संस्कारों की खींचातानी के कारण संशय अनिवार्य रूप से साधक के जीवन में आता है। यह अनिश्चित एवं अस्थिरता की स्थिति अत्यन्त पीड़ादायक होती है। लेकिन संशय को दूर करने के उपाय भी हैं। प्रारंभ में ही बार-बार श्रवण एवं गहरे मनन के द्वारा लक्ष्य एवं मार्ग के विषय में स्पष्ट धारणा बना लेनी चाहिए। द्वितीयतः संशय-रहित उपदेष्टा का सहवास संशय दूर करने में बहुत सहायक होता हैं। तीसरे, यदि साधक को साधना करते करते दर्शनादि कोई अनुभूति हो जाये तो वह संशय दूर करके उसमें उत्साह एवं तीव्रता का संचार कर देंगे। इसलिए संशय दूर करने का श्रेष्ठ उपाय है साधना में लगे रहना। धीरे धीरे विचारों में स्थिरता आयगी और अनिश्चितता दूर हो जायेगी। मन को कभी भी अनिश्चितता की स्थिति में अधिक देर तक नहीं रहने देना चाहिए। भला-बुरा जो भी निर्णय लेना हो शीघ्र ले लेना चाहिए। अन्यथा व्यक्तित्व कभी भी सन्तुलित एवं दृढ़ नहीं हो सकता।

प्रमाद—प्रमाद का अर्थ है लापरवाही। लक्ष्य एवं पथ का निर्धारण होने के बाद भी इस विषय में आत्म-विस्मृत हो विषयों में लिप्त रहना, इस दुर्भाग्यपूर्ण चारित्रिक दोष के कारण होता है। इस दोष का शिकार व्यक्ति ध्यान, जप, आसन, आदि किसी भी साधन अथवा नियम का पूरे मन से अनुष्ठान एवं पालन नहीं करता। सभी कामों में ढीला ढाला। बनत-बनत बन जाई का भाव। श्री रामकृष्ण इस प्रकार के भाव को पसन्द नहीं करते थे। प्रमादी साधक के जीवन में पतन की अधिक सम्भावना होती है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि मुख्य यम नियमों के अतिरिक्त भी कुछ छोटे छोटे सहायक नियम होते हैं जिनका साधक को सतर्कता-पूर्वक पालन करना चाहिए। अन्यथा खतरा है।

आलस्य—आर्थिक अथवा मानसिक गुरुता के फल-स्वरूप साधना में अप्रवृत्ति आलस्य है। स्त्यान मानसिक चांचल्य के कारण होता है—मन इधर उधर घूमता रहता है। आलस्य शरीर व मन का तमोगुणात्मक सम्बन्धी

भाव है। ध्यान के समय नींद आ जाना, अथवा आसन पर बैठे बैठे ऊँघना—यह बहुत खराब बात है। ऐसे में तत्काल आसन त्याग कर उठ जाना चाहिए एवं गतिशीलता के द्वारा आलस्य पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। देह स्वभाव से ही आराम चाहती है। यदि उसे एक बार यह आराम दिया जाये तो वह उसे कभी भी नहीं छोड़ेगी। एक बार आराम तलबी की आदत बन जाने पर उसे दूर करना अत्यन्त कठिन है। तब फिर बलपूर्वक उसे हटाने का प्रयत्न करने पर शरीर में दर्द बुखार आदि की प्रतिक्रिया होती है। अतः प्रारंभ से ही सजग रहना चाहिए। मिताहार, जागरण एवं उद्यम के द्वारा इसपर विजय प्राप्त करनी चाहिए। साधक को कठोरता, श्रम, एवं कर्मठता में निश्चित आनन्द का अनुभव होना चाहिए।

अष्टांग मार्ग—व्याधि से आलस्य तक के उपर्युक्त वर्णित व्यवधान, तमोगुण प्रधान एवं परस्पर सम्बन्धित हैं। भगवान बुद्ध द्वारा बताये गये अष्टांग योग के कुछ अंगों का अनुष्ठान इन्हें दूर करने में सहायक हो सकता है। इनमें प्रथम है :

(1) **सम्यक् दृष्टि**—सत्य के सम्बन्ध में सत्यधारणा के लिए जीवन के उद्देश्य आदि विषयक शास्त्रों का पुनः पुनः विचारकर सम्यक् दृष्टिकोण बनाना सर्वप्रथम आवश्यक है। बौद्ध धर्म के अनुसार चार आर्य सत्यों का चिन्तन इसका उपाय है। इसके द्वारा संशय दूर होता है।

(२) **सम्यक् संकल्प**—'मैं सत्य का साक्षात्कार करूँगा,' "जीवन-मुक्त होऊँगा," इस तरह का दृढ़ संकल्प करना दूसरी सीढ़ी है। इसके बिना सम्यक् दृष्टि होने पर उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जायेगी। सम्यक् संकल्प स्त्यान एवं प्रमाद दूर करने का उपाय है।

(३) **सम्यक् कर्म**—जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्यक् संकल्प किया है, वह विभिन्न प्रकार के संयमों के अभ्यास के बिना पूरा नहीं हो सकता। सम्यक् कर्म के द्वारा आलस्य एवं प्रमाद रूपी अन्तरायों पर कुठाराघात किया जाता है।

(४) **सम्यक् वचन** (५) **सम्यक् आजीविका** (६) **सम्यक् व्यायाम**—इन तीन के द्वारा भी शरीर, मन एवं वाणी, नियंत्रित एवं सन्मार्ग में अग्रसर होते हैं।

अविरति—पतंजलि द्वारा वर्णित अन्तरायों में अगला अन्तराय "अविरति" है। विषय सन्निकर्ष के लिए, भोग रूपा तृष्णा अविरति कहलाती है। वैराग्य के बिना साधना प्रारंभ नहीं हो सकती, लेकिन यदि तीव्र वैराग्य न हो तो विषयों के प्रति स्थूल अथवा सूक्ष्म आकर्षण बना रहता है। गीता में कहा गया है कि विषय-त्याग करने वाले साधक का भी विषयों में रस या सूक्ष्म लगाव, आसक्ति बनी रहती है। यह मन को इष्ट चिन्तन में नहीं लगने देती। इसको दूर करने का उपाय है विषय-चिंतन का परित्याग एवं काम-संकल्प-वर्जन।

भ्रान्तिदर्शन—यथार्थ अनुभूति को न जानने के कारण निम्न आध्यात्मिक अवस्था को उच्च मान लेना अथवा किसी अति तुच्छ अथवा बाह्य अनुभव को यथार्थ आध्यात्मिक अनुभूति मान लेना भ्रान्तिदर्शन है। 'ईश्वर दर्शन,' 'ज्योतिदर्शन,' 'कुण्डलिनी जागरण, 'नादश्रवण, आदि के बारे में पुस्तकों में पढ़कर उन्हें प्राप्त करने की व्यग्रता साधक को इस प्रकार की भ्रान्तियों में डाल देती है। पीठ पर कपड़ों के नीचे चींटी के ऊपर की ओर चढ़ने के संवेदन को कोई कुण्डलिनी जागरण समझ बैठते हैं। ध्यान में बैठे बैठे नींद आ गयी और उसे समाधि समझना, उपनिषदों को पढ़ने से ब्रह्म विषयक बौद्धिक ज्ञान को ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान समझ बैठना, शारीरिक स्वस्थता एवं मानसिक तनावरहित स्थिति में शान्त, आनन्द की स्थिति को ब्रह्मानन्द समझ बैठना, ध्यान में बैठकर मन को एकाग्र किये बगैर कल्पना को खुली छूट देना और ऐसी स्थिति में प्राप्त कल्पना-चित्रों को आध्यात्मिक दर्शन मानना इत्यादि भ्रान्ति-दर्शन के दृष्टान्त हैं। ये आध्यात्मिक अवस्थाएँ हैं ही नहीं। लेकिन मूर्ख साधक इन्हें महत्व दे महान अन्धकार में पतित हो जाते हैं। कभी कभी ज्योति दर्शन, नादश्रवण आदि यथार्थ अनुभूतियाँ

होती हैं। ये साधना में प्रगति होते हुए भी उच्चतम स्थिति की परिचायक नहीं हैं। आध्यात्मिक जीवन की सत्यधारणा, एवं अनुभवी गुरु के सहवास से इस तरह की भ्रान्त धारणाओं से बचा जा सकता है।

अलब्ध-भूमिकत्व – जिस स्थिति में साधक है, प्रयत्न करने पर भी उच्चतर स्थिति में आरोहण करने में असमर्थता अलब्ध भूमिकत्व है। आध्यात्मिक प्रगति की तुलना एक लिफ्ट द्वारा ऊपर की मंजिलों में जाने से दी जा सकती है। कभी ऐसा हो सकता है कि हम लिफ्ट के सामने खड़े हों, पर दरवाजा न खुले, अथवा दरवाजा खुल जाये, हम अन्दर चले भी जायँ, पर लिफ्ट ऊपर न उठे। अथवा ऊपर पहुँचकर लिफ्ट के बाहर निकलें, और ऊपरी मंजिल पर घूमने लगें, लेकिन लौटते समय लिफ्ट तक पहुँचने का रास्ता न पायें। आध्यात्मिक जीवन में भी कुछ इसी प्रकार की बातें होती हैं।

साधना के प्रारम्भिक स्तरों पर भी कुछ इसीप्रकार की असमर्थताएँ साधक के सामने उपस्थित हो सकती हैं। सर्वप्रथम तो हृदय-चक्र में मन को केन्द्रित करना ही सम्भव न हो। यदि यह सम्भव हो भी तो इष्ट का पूरा रूप नहीं दिखाई देता हो—कभी मुँह तो कभी पैर। पूरा रूप दिखे भी तो स्पष्ट न हो और अधिक समय तक स्थिर न हो। स्थिर हो तो भी ज्योतिर्मय नहीं, अथवा साधक को इष्ट चिन्तन में आनन्द न प्राप्त हो। इस प्रकार की कई बाधाएँ साधक के समक्ष उपस्थित हो सकती हैं। इन्हें दूर करने का उपाय है निरन्तर अभ्यास में लगे रहना, तथा प्रभु से सहायता की प्रार्थना करना।

(८) **अनवस्थितत्व**—किसी स्तर विशेष को प्राप्त करके भी उस पर अवस्थित न रह पाना एवं फिसलकर पुनः निम्न अवस्था पर आ जाना अनवस्थितत्व कहलाता है। यम-नियम के समुचित अनुष्ठान, पर्याप्त मानसिक पवित्रता आदि साधना की पूर्व तैयारियों के अभाव के कारण हम बार बार फिसल जाते हैं। यही कारण है कि योगाचार्य यम-नियम एवं पवित्रता को इतना अधिक महत्व देते हैं। दूसरी बात यह है कि एक अवस्था की प्राप्ति के बाद उसमें दृढ़ प्रतिष्ठ होने पर ही आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। भवन निर्माण में नीचे वाली मंजिल के सुदृढ़ होने पर ही ऊपरी मंजिल बनायी जा सकती है, अन्यथा पूरा मकान ही ढह जायेगा। उच्च स्तर की एक अनुभूति होने पर अभ्यास के द्वारा उसे बार बार प्राप्त करना चाहिए जिससे वह स्वाभाविक स्थिति में परिणत हो जाये। श्रीरामकृष्ण को जब जगदम्बा का प्रथम दर्शन हुआ तो वे उसी से सन्तुष्ट नहीं रहे। वे साधना द्वारा उस दर्शन को पुनः पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे। अन्त में जगन्माता का दर्शन उनके लिए अत्यन्त स्वाभाविक हो गया था।

अन्तराय दूर करने के सामान्य उपाय—अभ्यास एवं वैराग्य उपर्युक्त विक्षेपों को दूर करने के सामान्य उपाय हैं। इसके अतिरिक्त पतंजलि के अनुसार ईश्वर प्रणिधान एवं ईश्वर के वाचक प्रणव के जप एवं अर्थ चिन्तन से अन्तराय दूर होते हैं। जिस अन्तराय का जो प्रतिपक्ष या विरोधी उपचार है, वह ईश्वर प्रणिधान से प्रकट होकर अन्तराय दूर कर देता है। ईश्वर प्रणिधान से चित्त शुद्ध होता है, एवं बुद्धि निर्मल और सात्विक होती है। इससे क्रमशः साधक की शुद्ध इच्छाओं की बाधाओं का अभाव हो जाता है। वह जो चाहता है वह व्यवधानरहित रूप से प्राप्त करता है।

एक अन्य उपाय का उल्लेख पतंजलि विक्षेपों को दूर करने के लिए करते हैं; वह है एकतत्वाभ्यासः (१:३२) 'एकतत्व' के विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं। दीपशिखा से लेकर ईश्वर तक किसी भी एक वस्तु पर ध्यान का अभ्यास करने से अन्तराय दूर हो सकते हैं। जिस प्रकार कुआँ खोदते हुए यदि बार बार स्थान बदला जाये तो कभी जल नहीं मिल सकता उसी प्रकार ध्यान के प्रत्यय को बार बार बदलने से कभी चित्त स्थिर नहीं हो सकता और न ही कोई आध्यात्मिक उपलब्धि हो सकती है।

★

श्रीरामकृष्ण जन्म शताब्दी के बाद

—स्वामी अमलेशानन्द
मैसूर

[स्वामी अमलेशानन्द रामकृष्ण इंस्टिट्यूट ऑफ मोरल एंड स्पिरिचुअल एजुकेशन, मैसूर में कार्यरत हैं। उनके मूल बंगला लेख का अनुवाद दाउदपुर, छपरा निवासी श्रीरमाशंकर प्रसाद सिन्हा ने किया है—स०]

१

स्वामी विवेकानन्द का जीवन व्रत ही था "श्रीरामकृष्ण की वाणी और उनके आदर्श को सारे विश्व में बिखेर देना।" "इसी व्रत के पालन में स्वदेश छोड़ विदेश में श्रीरामकृष्ण भावधारा के प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने उपयुक्त क्षेत्र की रचना की। किन्तु विश्व की चिन्ता के साथ-साथ स्वदेश की चिन्ता का विस्मरण उन्होंने नहीं किया। वे पराधीन भारत के निवासियों की मोह निद्रा भंग करने के लिए उन्हें उपनिषद् के "अभीः" मन्त्र से दीक्षित करना चाहते थे। श्रीरामकृष्ण ने स्वयं इसी उपनिषदिक जीवन का पालन किया। वे स्वयं वेद वेदान्तों के जीवित भाष्य के रूप थे तथा भारतीय जाति और धर्म के अनुसार ही सारा जीवन व्यतीत किया। (वाणी और रचना के सप्तम खण्ड के ६५ पृष्ठ से उद्धृत) इसलिए उनका यही स्वप्न था कि आगामी भारतवासी श्रीरामकृष्ण के महाजीवन को केन्द्र बनाकर अपने पैर पर खड़े हो विश्ववासियों को उनके मुक्तिपथ का प्रदर्शन करें।

१८९३ ई० के सितम्बर माह के 'शिकागो" धर्म महासभा में विवेकानन्द की अलौकिक सफलता का संवाद भारत में पहुँचने के साथ-साथ सारे भारतवासियों का ध्यान हठात् श्री विवेकानन्द पर तथा अत्यन्त अवधारित रूप में उनके 'गुरु 'श्रीरामकृष्ण" पर केन्द्रित हुआ था। अनेक शताब्दियों की पराधीनता के ग्लानिमय परिवेश की पृष्ठभूमि में श्रीरामकृष्णोत्सव की सफलता ने भारतीयों के जन-जीवन में किस प्रचण्ड उत्साह की रचना की थी इसकी सूचना स्वामी जी को भी मिली थी तथा उन्होंने अत्यन्त उत्साह पूर्वक इस ऐतिहासिक जन जागरण को भी लक्ष्य किया था। श्रीरामकृष्ण भावआन्दोलन को एक दृढ़ भित्ति पर स्थापित करने तथा अपने स्वदेश के गुरुभाइयों और श्री रामकृष्ण के अनुरागी असंख्य भाइयों को संघ बद्ध करने के लिए स्वामीजी अमेरिका से लगातार चिट्ठियों के माध्यम से उपदेश निदेश दिया करते थे।

भारतवर्ष में श्री रामकृष्ण के प्रति सचेतनता स्वामी जी अपने कानों सुनना चाहते थे। उन्होंने जन जीवन में श्री रामकृष्ण भावधारा को संप्रेषित करने के लिए एक उपयुक्त समय में उनके आविर्भाव दिवस को लक्ष्य बनाया। इस विशेष दिन को इस प्रकार की सम विचारधारा के मनुष्य इकट्ठे हो उनके जीवन और उनकी वाणी पर प्रकाश डालें। इसी चलते बहुत लोग उन्हें जानेंगे और उनके विचार से अनुप्राणित होने का समय पायेंगे। इसीलिए स्वामीजी श्रीरामकृष्ण के अविर्भाव के उपलक्ष में महोत्सव मनाने के लिए प्रयत्नशील थे, और स्वामी ब्रह्मानन्द को १८९४ के शेष में यह पत्र लिखा कि इस बार इस जन्मोत्सव के महोत्सव को ऐसा करें जैसा कि कभी हुआ ही नहीं।

२

जन्मोत्सव का उद्देश्य स्वामी जी ने विस्तृत रूप में इस प्रकार लिखा "इस महोत्सव का उद्देश्य सिर्फ स्मारक

बनाना ही नहीं है वरन् इसका उद्देश्य श्री रामकृष्ण के धर्ममतों के प्रचार का एक मूल केन्द्र भी हो।" (वाणी ओ रचना के सप्तम खण्ड के पृष्ठ १३४ से उद्धृत) महोत्सव का चरित्र किस प्रकार का होगा, इस विषय में उनका सुस्पष्ट निर्देश है "महोत्सव आदि में पेट का भोजन कम करके मस्तिष्क को भोजन देने की विशेष चेष्टा होनी चाहिए" (वाणी ओ रचना : सप्तम खण्ड पृ०२२) उत्सव के उपलक्ष में आगत भक्तों को प्रसाद अवश्य दिया जाय किन्तु यह प्रसाद अतिसाधारण रूप में एक प्याली में कचौड़ी आदि रख कर लोगों को हाथ में खड़े-खड़े ही देना यथेष्ट होगा। उत्सव का प्रधान अंग एवं उद्देश्य श्री रामकृष्ण जी के आदर्श का प्रचार ही होना चाहिए और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनकी पूजा, कीर्त्तन, उनकी जीवनी का पाठ तथा प्रवचन होना चाहिए।

श्री रामकृष्ण के जन्मदिन का महोत्सव वस्तुतः १८९५ ई० से ही हो रहा है। इसके पहले श्रीरामकृष्ण जी के गृही भक्त ही भाड़े के मठ में तथा दक्षिणेश्वर की कालीबाड़ी में ही महोत्सव मनाया करते थे। यह भी स्मरण करने की बात है कि श्री रामकृष्ण जी की जन्मतिथि के उपलक्ष में उनके जीवन काल से ही उनकी पूजा और उत्सव मनाये जा रहे हैं। उस समय इस शुभ दिन का पालन बिना किसी आडम्बर के उनके एकान्त जन अन्तरंग पार्षद ही इकट्ठे हो किया करते थे। इसी प्रकार की एक घटना की बात श्री "म" के कथामृत में वर्णित की जाती है:—

"फाल्गुन शुक्ल द्वितीया तिथि तदनुसार ११ मार्च १८८३ई० को ठाकुर के अन्तरंग भक्तगण साक्षात् श्री रामकृष्ण जी को ही लेकर काली बाड़ी में ही उनका जन्मोत्सव मनायेंगे।"

"प्रातः काल से ही भक्त लोग एक-एक कर उपस्थित होने लगे। ....मंगल आरती के बाद से ही नौवतखाना में मधुर राग से प्रभाती राग में रोशन चौकी बजने लगी। इस वसन्त काल में वृक्ष-लता सभी ने नया वेष परिधान किया है, इससे भक्तलोगों के हृदय ठाकुर के जन्म दिन का स्मरण कर नाचते हैं मानो आनन्द की वायु ही बह रही है। मास्टर जाकर देखते हैं कि एकदम प्रभात काल में ही भवनाथ, राखाल, भवनाथ के बन्धु कालीकृष्ण आदि उपस्थित हैं तथा ठाकुर इन लोगों के साथ पूरब के बरामदे में बैठकर हंसते हुए बातें कर रहे हैं। इसी बीच मास्टर ने उपस्थित हो भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया"

२

१८९४ ई० में जब मठ आलम बाजार के भाड़े के मकान में था तभी श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के उपलक्ष में महोत्सव मनाने के विषय में स्वामी विवेकानन्द का अमेरिका से आदेश आया। उनके अनुयायी मठ के त्यागी भक्त स्वामी रामकृष्णनन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी योगानन्द आदि तथा गृही भक्त श्री रामचन्द्रदत्त तथा महेन्द्र नाथ गुप्त, गिरीश चन्द्र घोष प्रभृति की सम्मिलित चेष्टा से १८९५ ई० का रामकृष्ण जन्मोत्सव खूब धूम-धाम से दक्षिणेश्वर की काली बाड़ी में ही मनाया गया। स्वामी जी को इसकी विस्तृत सूचना दी गयी और उन्होंने खुश होकर लिखा—"महोत्सव खूब धूमधाम से मनाया गया यह अच्छी बात है—अगले वर्ष एक लाख लोग इकट्ठे हों इसकी चेष्टा की जायगी क्या?" (वाणी ओ रचना : सप्तम खण्ड : पृ० १३३)

इसके बाद प्रतिवर्ष श्री रामकृष्ण जी के नाम के प्रसार के साथ-साथ जनता की संख्या की, उनके जन्मोत्सव में तीव्र गति से वृद्धि होने लगी। स्वामी जी भी दूर से ही क्रमशः पूरे विस्तार से विभिन्न निर्देश देकर गुरु भाइयों का परिचालन करते थे। अधिक क्या कहा जाय श्री रामकृष्ण के जन्मोत्सव के शुभ दिन को उनके भाव प्रचार का एक अत्यन्त मूल्यवान क्षेत्र उनके समक्ष ही परिचालित हुआ था।

१८९६ ई० में स्वामी अखण्डानन्द ने अपनी स्मृति कथा में लिखा है "आलमबाजार के मठ में ठाकुर की

तिथि के दिन रामदादा (रामचन्द्रदत्त) मास्टर महाशय "श्री म" मनमोहन बाबू आदि सारे भक्तगण आये थे।"

"इस बार के महोत्सव में किस प्रकार का प्रसाद होगा इसकी चर्चा होने लगी। उस समय स्वामी योगानन्द एवं ब्रह्मानन्द बलराम बाबू के घर पर ही थे। वहीं पर प्रियनाथ मुखोपाध्याय आदि ने जो महोत्सव के प्रधान कार्यकर्त्ता थे, यह प्रस्ताव किया कि "दरिद्र नारायण के लिए उरद की दाल की ढाला खिचड़ी और समागत भक्त लोगों के लिए पांच मन सोना मूंग की दाल और बांक तुलसी चावल की भुनी हुई खिचड़ी होगी। यह सुनकर मठ के हम सभी इस व्यवस्था को रद करने के लिए तैयार हो गये। ठाकुर के प्रसाद के सभी समान अधिकारी हैं। ठाकुर के दरबार में छोटा-बड़ा ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है। इसलिए इस व्यवस्था के परिवर्त्तन के लिए हमलोग स्वामी ब्रह्मानन्द के पास गये। हमलोग गणतांत्रिक विचार के हैं इस लिए समाज में किसी प्रकार की बिषमता सह्य नहीं होती।

४

"बलराम बाबू के घर जाकर मैंने स्वामी ब्रह्मानन्द से पूछा, "राजा! क्या (तुमने) आपने ही प्रसाद के दो प्रकार की व्यवस्था की है?"

उन्होंने कहा, गृही भक्त लोग इस प्रकार की बातें कर रहे थे। किन्तु मैं इस हाँ-ना के पचड़े में नहीं था। तुमलोगों के प्रस्ताव के अनुसार सब के लिए ही भुनी खिचड़ी के प्रसाद की व्यवस्था होगी।

(स्मृति कथा पृ० १५० से)

५

इस वर्ष के जन्मोत्सव के समय एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या उत्पन्न हुई जिसका समाधान स्वामीजी ने स्विटजरलैण्ड से पत्र लिखकर, आगे चलकर किया। स्वामी अखण्डानन्द की "स्मृति कथा" में वर्णित घटना:—

"इस वर्ष १८९६ ई० के उत्सव के समय एक और मजे की घटना हुई। प्रतिवर्ष इस महोत्सव के दिन कलकत्ता शहर के बहुत लोग दक्षिणेश्वर जाया करते थे। सभी वर्ग की स्त्रियों को दलबद्ध होकर ठाकुर के उत्सव में जाते देख साधारण लोगों में चर्चा होने लगी कि इस महोत्सव में एक और "द्वादश गोपाल" की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार की चर्चा सुन स्वामी "त्रिगुणातीत" (त्रिगुणातीतानन्द) कुछ भक्त लड़कों की सहायता से इसे रोकने के लिए कटिवद्ध हो गये।"

"मेसर्स होर मिलर कम्पनी की कई स्टीमरें प्रातः ८ बजे से १० बजे रात तक हाटखोला घाट से इधर के यात्रियों का दक्षिणेश्वर तक यातायात करने लगीं। गृही भक्त रामदयाल चक्रवर्ती इस कम्पनी के एक ठीकेदार थे। उन्हीं की देखरेख में इसकी व्यवस्था थी। त्रिगुणातीतजी ने उन्हें कह दिया कि प्रबन्ध ऐसा रहे कि स्त्रियों को किराया नहीं देना पड़े। बाद में चीतपुर रोड के जोड़ासाको तक, थोड़ी दूर पर एकरंगे के कपड़े पर यह लिखकर कि दक्षिणेश्वर महोत्सव में स्त्रियाँ नहीं जायँ, रास्ते के दोनों ओर टांग दिया गया। इसकी तैयारी बड़े दिन के समय जैसा गेंदे की माला में कमला नींबू, कचौड़ी, जिलेबी आदि खाद्य पदार्थ साग-सब्जी सहित, टूटे झाड़ू, फटे जूते, टूटा हुक्का बांधकर रास्ते के दोनों तरफ लटकाया जाता था, ठीक उसी प्रकार स्वामी त्रिगुणातीत ने टंगवा दिया। उन्होंने और उनके सहकर्मियों ने उत्सव में इस रास्ते पर जाने से रोक लगाने के लिए बड़े-बड़े इस्तहारों पर और दीवारों पर लिखवा दिया।

६

यह व्यवस्था कर वे निश्चिन्त हो गये कि इस बार स्त्रियों के उत्सव में जाने का रास्ता बन्द हो गया। महोत्सव के पहले ही मैंने स्वयं जाकर देख लिया कि किस प्रकार स्टीमर से यातायात की व्यवस्था हुई है।

महोत्सव के दिन खूब सवेरे ही एक दो आदमियों को छोड़ हम सभी मठ से दक्षिणेश्वर जा उपस्थित हो

गये।......गिरीशबाबू आदि गृही भक्तगण एक-एक कर आकर उपस्थित होने लगे। आन्दुल के गेरुआवस्त्रधारी भस्म रमाकर जटा धारण किये काली कीर्त्तनकारियों का दल, नाट मंदिर में आकर तानपूरा और पखावज ठीक करने में व्यस्त हो गया।

दलबद्ध पैदल स्त्रियों को आते देख त्रिगुणातीत जी ने अपने सहकर्मियों को फाटक बन्द करने का आदेश दिया। तब तक दल बांधकर महिलाएँ स्टीमर से आकर दक्षिणेश्वर काली बाड़ी में मनमाने ढंग से विचरण करने लगीं। इसे देख उन्हें बाधा प्रदान करने वाले सभी कर्मचारी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। इसे देख गिरीश बाबू के अनुरोध पर प्रधान फाटक के खुलते ही, जैसे बांध टूटने पर जल स्रोत हर-हर कर भर जाता है वैसे ही स्त्रियों ने कालीबाड़ी को भर दिया। इस पर बहुत लोगों ने कहा कि बाधा देने के फलस्वरूप ही, इस साल और सालों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या खूब अधिक हो गयी।

इस महोत्सव का संवाद स्वामी जी के पास चार पाँच मास बाद पहुँचा। २३ अगस्त १८९६ के एक पत्र में स्वामी जी ने स्वामी कृष्णानन्द को अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया कि चाहे जो भी हो यह एक प्रचण्ड रक्षणशील बंगाल के सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में, कठिन साहस का परिचायक है। साथ ही यह स्वामीजी के उदारमन का एक उज्वल दृष्टान्त भी है। स्वामीजी ने लिखा है कि उन्हें रामदुलार बाबू का एक पत्र मिला जिसमें उन्होंने लिखा था कि दक्षिणेश्वर महोत्सव में बहुत सी वेश्याएँ गयी थीं। इसलिए भद्र लोगों के मन में इसबार बराबर की भांति जाने की इच्छा कम हो गयी।

७

और उनके मतानुसार पुरुषों के लिए एक दिन और स्त्रियों के लिए एक दूसरे दिन की व्यवस्था होनी चाहिए:—इस पर मेरा विचार है कि

(१) यदि वेश्याएँ दक्षिणेश्वर के महातीर्थ में न जायँ तो कहाँ जायेंगी। प्रभु का प्रकाश जितना पापियों के लिए है उतना पुण्यवानों के लिए नहीं है।

(२) मर्द औरत का भेद, जाति भेद, धन भेद, विद्या भेद आदि नरक द्वार के बहु भेद संसार में ही रहें क्योंकि यदि तीर्थ स्थलों में भी इसी प्रकार का भेद हो तो नरक और तीर्थ में भेद ही क्या रहा!

(३) हमलोगों के जगन्नाथ पुरी में पापी अपापी, साधु असाधु, बालक वृद्ध स्त्री नर-नारी सभी का एक समान अधिकार है। वर्ष में अन्तत: एक बार भी पाप व भेद बुद्धि से निस्तार पाकर एक साथ हरिनाम करें व सुनें, इसी में परम मंगल है।

(४) जो लोग ठाकुर के स्थान पर जाने पर भी यह वेश्या है, यह नीच जाति, यह गरीब, यह छोटा यह बड़ा है ऐसा मन में याद रखें या सोचें उनकी संख्या, जिन्हें तुमलोग भद्र लोग कहते हो, जितनी कम हो, उतना ही मंगल है। जो लो लोग भक्तों की जाति या योनि या व्यवसाय की ओर ध्यान देते हैं, वे लोग हमारे ठाकुर को क्या समझ पायेंगें! भले ही कोई भद्र लोग न आये पर सैकड़ों वेश्याएँ ठाकुर के पास आ उनकी प्रार्थना कर उनके पैरों पर माथा टेकें, यह कहीं ज्यादे अच्छा है। वेश्याएँ, मतवाले चोर डकैत सभी ठाकुर के खुले दरवार में आयें।

"It is easier for a camel to pass through the eye of a niddle than for a richman to enter the Kingdom of God." [किसी धनी व्यक्ति का ईश्वर के राज्य में प्रवेश करने की अपेक्षा एक ऊँट का सूई के छेद से निकल जाना आसान है] इस प्रकार के निष्ठुर राक्षसी भाव को कभी भी मन में स्थान नहीं देना चाहिए।

श्री विवेकानन्द १८९७ ई० में विदेश के विजय-अभियान को पूरा कर भारत आये और इस वर्ष के मार्च महीने के दक्षिणेश्वर महोत्सव में योगदान किया।

उनके साथ दो अंग्रेज महिलाएँ भी आयी थीं। उस वर्ष विदेश से आये स्वामी विवेकानन्द के दर्शनार्थ बहुत लोग आये थे। इस बार विवेकानन्द के बाल्यकाल की क्रीड़ा-भूमि दक्षिणेश्वर में आने पर एक पूरे भिन्न प्रकार के उत्साह का वातावरण उपस्थित हुआ था।

८

स्वामीजी भवतारिणी मंदिर, और श्री रामकृष्ण के घर आदि का भी दर्शन और प्रणाम कर वहाँ पर उपस्थित ठाकुर के भक्तों से वार्तालाप करने लगे। बाद में साथ में आयीं दोनों अंग्रेज महिलाओं को श्रीरामकृष्ण का साधना स्थल पंचवटी और विल्वमूल आदि का दर्शन करा उन्होंने आलम बाजार मठ जाने के उद्देश्य से प्रस्थान किया। चलते समय साथ में चलने वाले स्वामी निरंजनानन्द तथा श्री शरत् चन्द्र चक्रवर्त्ती से कहा—"सिर्फ साधुभाव लेकर पड़े रहने से क्या लाभ ? इस प्रकार के उत्सवों की भी आवश्यकता है। तभी तो यह सब भाव जन साधारण तक पहुँच पायेगा। हिन्दुओं के इन बारह महीनों में तेरह पर्व मनाने का ही अर्थ होता है कि धर्म के ऐसे महत्वपूर्ण भाव उनमें प्रवेश कर जायँ। इसका एक दोष भी है कि जन साधारण इसके वास्तविक रूप को बिना समझे ही उन्मत्त हो जाते हैं और इस तरह के उत्सव का आमोद समाप्त होते ही फिर वे जैसा का तैसा हो जाते हैं। फिर भी अवतार पुरुष भी इन सब उत्सवों को (कीर्त्तन-षष्ठी पूजा आदि को) मानते चले आये हैं। फिर भी इन सभी व्यवहारों की आवश्यकता है।

[स्वामी शिष्य संवाद २४-२५ पृष्ठ] दक्षिणेश्वर की रासमणि के मठ के उद्योग से श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव इस वर्ष १८९७ ई० के शेष काल में सम्पन्न हुआ।

१८९८ ई० की १३ फरवरी को बेलुड़ में निलाम्बर मुखर्जी के बाग वाले मकान को भाड़े पर लेकर, मठ, आलाम बाजार से उठ कर यहाँ स्थापित हुआ। यहीं पर धनिष्ठ भक्त बन्धुओं के सहयोग से श्रीरामकृष्ण की तिथि पूजा २२ फरवरी को नियम पूर्वक मनायी गयी। इस प्रसंग में यह कहा जाता है कि श्रीरामकृष्ण की तिथि पूजा पहले पहल मठ के अपने ही मकान में मनायी गयी चाहे यह वाराहनगर अथवा आलमबाजार या नीलाम्बर बाबू के भाड़े पर लिये गये बाग वाले मकान में हो। और इस तिथि पूजा में केवल श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग भक्त ही योगदान कर पाये। दक्षिणेश्वर में यदि पूजा होती तो यह सर्वसाधारण के लिए पूजा तिथि के बाद वाले रविवार को मनायी जाती जैसा कि वेलुड़ मठ में आज भी इसी रीति से की जाती है।

९

१८९८ ई० का श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव विशेष तात्पर्य पूर्ण था। इस वर्ष स्वामी जी ने करीव पचास अब्राह्मणों को यज्ञोपवीत दान किया। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय इसलिए है कि स्वामी जी ने साक्षात् रूप से समाज का संस्कार विरोधी हो, मात्र इसी एक स्थान पर प्रचलित रीति का उल्लंघन कर, अब्राह्मणों को गायत्री और यज्ञोपवीत प्रदान किया।

इसी दिन से स्वामीजी ने जिस श्रीरामकृष्ण के वन्दनागीत "खण्डन भव बंधन······" की रचना की थी आज सभी आश्रमों में सान्ध्य आरती के समय गाया जाता है।

इस वर्ष सर्व साधारण उत्सव का दिन, तिथि पूजा के बाद वाले रविवार को मनाया गया। किन्तु दक्षिणेश्वर मंदिर के कार्यकर्त्ताओं ने अन्य वर्षों की रीति का उल्लंघन कर दक्षिणेश्वर काली बाड़ी में श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव मनाने की अनुमति नहीं दी। क्यों कि उनके मतानुसार स्वामी विवेकानन्द के विदेश जाने के कारण वे जाति भ्रष्ट हो "म्लेच्छ" हो गये हैं। और इसी अपराध के कारण इनके आने से काली बाड़ी के कलुषित होने की विशेष आशंका है। अधिकांश जन्मोत्सव के उपलक्ष मे स्वामी जी के साथ, विदेश से आये उनके शिष्यों के भी आने की संभावना तो थी ही और वे तो

पूर्णरूप से म्लेच्छ हैं ही । ध्यान देने योग्य तो बात यह है कि पिछले साल, विदेश से तुरंत आने के बाद "भवतारिणी मंदिर, राधाकान्त देव मंदिर में प्रवेश कर, प्रणाम कर ही दक्षिणेश्वर के जन्मोत्सव में योगदान किया था । मंदिर के कार्यकर्त्ताओं ने इसमें बाधा देने की चिन्ता भी नहीं की । स्वामी जी का कालापानी के लिए प्रस्थान और कायस्थ जाति के होने पर भी संन्यास ग्रहण करना' आदि अनाचार के विरुद्ध बंगाल के रक्षणशील समाज के एकांश में जो दुर्गन्धमय वातावरण उपस्थित हुआ था इसी घटना का ही यह विशेष प्रकाश है । कहना व्यर्थ है कि दक्षिणेश्वर मंदिर के रक्षणशील कार्यकर्त्ताओं ने इस वर्ष उत्सव के अनुष्ठान की अनुमति नहीं दी ।

अन्त में उस वर्ष का जन्मोत्सव, वेलुड़ के निकटवर्ती श्रीयुक्त पूर्णचन्द्र दा के ठाकुरवाड़ी बनाने के लिए लिये गये एक स्थान पर ही मनाया गया । यथासम्भव पूरे समारोह के साथ उस वर्ष उसी स्थान पर उत्सव मनाया गया ।

१०

बहुत दिन, प्राय: बारह वर्ष (१८८६ से १८९८ ई०) तक विभिन्न किराये के स्थानों में समय व्यतीत करने पर अन्त में वेलुड़ में गंगा के किनारे ही अपनी जमीन खरीदी गयी । १८९८ ई० के जनवरी महीने में, नीलाम्बर मुखर्जी के किराये के मकान से मठ वेलुड़ में लाया गया । इसके बाद से श्री रामकृष्ण की जन्म तिथि तथा श्री रामकृष्ण का जन्म महोत्सव, वेलुड़ मठ की अपनी ही जमीन में मनाये जाने लगे ।

□

धारावाहिक

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन कथा

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

अब हम जिस प्रसंग पर आ रहे हैं, उसके काल के बारे में पता नहीं । अनुमान के आधार पर हम उसे १८८४ ई० की घटनाओं में सम्मिलित कर रहे हैं। एक दिन ठाकुर कलकत्ते से दक्षिणेश्वर को आ रहे थे । गाड़ी के भीतर बैठे थे । हमारे रामलाल दादा और परमहंसदेव तथा ऊपर कोचवान के समीप सेवक लाटू बैठे हुए थे । रास्ते में काशीपुर के पास ठाकुर ने कहा— 'अरे लेटो । गाड़ी रोकने को कह ।' गाड़ी रुकते ही ठाकुर ने रामलाल (दादा) से कहा—'अरे ! मुझे बड़ी भूख लगी है । तेरे पास कुछ है क्या ? जा न फागू की दुकान से हींग की गरम-गरम कचौड़ियाँ बनवा कर ले आ ।' ठाकुर के निर्देशानुसार रामलाल (दादा) कचौड़ियाँ लाने गये । और इधर सेवक लाटू भी किसी विशेष प्रयोजनवश जंगल की ओर गये । दोनों को लौटकर आने में पाँच मिनट से अधिक समय नहीं लगा था । इसी बीच ठाकुर गाड़ी से उतर कर अपने आप में डूबे एक तरफ को चल दिये । दोनों ने आकर देखा कि ठाकुर गाड़ी में नहीं हैं, निकट भी कहीं नहीं

दिखते । तब दोनों ही उनकी तलाश में निकले। थोड़ी ही देर में रामलाल दादा ने ठाकुर को देख लिया। निम्नलिखित बातें रामलाल दादा से सुनकर लाटू महाराज ने परवर्ती काल में हमें बतायी थीं—

"जानते हो! रामलाल (दादा) उन्हें पुकारते जा रहे थे, और वे कोई उत्तर दिये बिना तेजी से आगे बढ़े जा रहे थे। अन्त में रामलाल (दादा) उन्हें पकड़ने को दौड़ने लगे और उनका हाथ धर कर बोले—'कहाँ जा रहे हैं, गाड़ी में चलिए।' उन्होंने (ठाकुर ने) ऐसा भाव व्यक्त किया मानो वे रामलाल (दादा) को पहचान न पा रहे हों। रामलाल (दादा) उन्हें याद दिलाने को कहने लगे—"मुझे गरम कचौड़ियाँ लाने को कहकर आप किधर चले जा रहे हैं? गरम कचौड़ियाँ न खायेंगे? चलिए न।' इतना कहने के बाद कहीं वे गाड़ी में लौटे। उसी के उपरान्त हममें से कोई एक सर्वदा उनके पास रहता था।"

उसी वर्ष दुर्गापूजा के समय दक्षिणेश्वर में गोलोकधाम* का खेल हुआ था। प्रथम बार में ही सातों कौड़ियाँ चित पड़ जाने के कारण लाटू की गोटी सीधे गोलोकधाम में पहुँच गयी थी। इस पर लाटू आनन्द के मारे नाचने लगे। हो-हल्ला सुनकर ठाकुर भी वहाँ आ पहुँचे थे। (देखिए—श्री रामकृष्ण-वचनामृत, द्वितीय भाग, पंचम संस्करण पृ० ३८३)

'एक दिन ठाकुर हम लोगों को साथ लेकर कलकत्ता जा रहे थे। काशीपुर के निकट आकर गाड़ी के ठहरते ही ठाकुर ने देखा कि कई शराबी मदिरालय के सामने बैठकर पी रहे हैं और गाने गा रहे हैं। शराबियों का गाना सुनकर ठाकुर को भावावेश हो गया। वे गाड़ी से उतरने लगे और एक पांव पाँवदानी पर रखकर लड़खड़ाने लगे। यह देख कुछ लोग उन्हें सम्हालने को बढ़े। मैंने उन लोगों से कहा—'उनका स्पर्श मत कीजिए, वे स्वयं ही गाड़ी में आ जाएँगे। एक कोई उनकी रक्षा कर रहे हैं। वे स्वयं ही गाड़ी में चढ़ा लेंगे।' मेरी बात मानकर किसी ने उनके शरीर पर हाथ नहीं लगाया और वे स्वयं ही गाड़ी में चढ़ गये। जानते हो! समाधि की अवस्था में किसी को छूना नहीं चाहिए। अशुद्ध व्यक्ति के स्पर्श किये रहने पर साधक के भीतर माँ की शक्ति नहीं आ सकती। मैंने देखा है कि अशुद्ध व्यक्ति के स्पर्श से उन्हें कितनी पीड़ा होती थी।'

"जानते हो! वे हमें साथ लेकर थियेटर देखने जाते थे। वहाँ गिरीश बाबू उनकी बड़ी खातिर करते थे। वे सोलह आने देते थे और उसी में गिरीश बाबू तीन चार लोगों को ऊपर बैठाते थे, फिर एक पंखा झलने वाले आदमी की भी व्यवस्था कर देते थे। गिरीश बाबू ऊपर उनसे मिलने को भी आते थे। एक बार क्या हुआ जानते हो? गिरीश बाबू नशे में धुत होकर थियेटर में उनके पास आये और जिद करने लगे—'तुम मेरे पुत्र के रूप में आओगे। वचन दो। इस जन्म में तो तुम्हारी सेवा नहीं कर सका, मेरा पुत्र हो जाने पर तुम्हारी खूब सेवा कर सकूँगा। बोलो, तुम मेरे पुत्र होकर आओगे।' ठाकुर ने इस पर कहा—'अजी, मैं क्यों तुम्हारा पुत्र होने जाऊँगा?' ठाकुर की बात पर गिरीश बाबू बड़े नाराज़ हो उठे। क्रोध के आवेग में उन्होंने ठाकुर को खूब गालियाँ सुनायीं। उन्हें गालियाँ

---

*कागज के एक टुकड़े पर हिन्दुओं के कुछ तीर्थस्थानों तथा स्वर्ग, नरक, मधुशाला, वेश्यालय आदि भले और बुरे दोनों ही प्रकार के कुछ पौराणिक स्थानों के चित्र अलग-अलग खाने में छपे रहते हैं। सात कौड़ियों में जितनी भी चित पड़ती हैं, उनके अनुसार प्रत्येक खिलाड़ी की गोटी एक घर से दूसरे घर में आगे बढ़ती है। इस प्रकार चलते चलते गोटियाँ वैष्णव लोगों के सर्वोच्च धाम गोलोक में पहुँचती हैं। एक बार किसी की गोटी नरक में पड़ जाय तो वह 'एक' पड़ने पर ही निकलती है। यदि किसी खिलाड़ी को पहली बार ही कौड़ियाँ फेंकने पर सातों चित पड़ती हैं तो वह सीधा गोलोक में पहुँच जाता है और पहला विजयी घोषित कर दिया जाता है।

देते देखकर मेरा भी खून चढ़ गया । मेरे हाथ में डण्डा था । मैं डण्डा उठाने ही वाला था कि देवेन बाबू ने हाथ जोरों से पकड़ लिया और बोले—'वे जब सहे जा रहे हैं तो तुम क्यों डण्डा उठाते हो ?' परन्तु मुझे तो इतना गुस्सा आ गया था कि यदि देवेन बाबू ने यह बात नहीं कही होती तो मैं उस दिन गिरीश बाबू को मार बैठता । गाड़ी में बैठकर दक्षिणेश्वर लौटते समय देवेन बाबू ने यह बात उन्हें भी कही । सुनकर उन्होंने कहा —'यह क्या रे ! गिरीश के ऊपर भी भला हाथ उठाना चाहिए क्या ? देखा नहीं, इतनी गाली-गलौज के उपरान्त भी गाड़ी में सवार होते समय उसने जमीन पर लेटकर प्रणाम किया ! देखा, उसमें कितना विश्वास है ?' गाड़ी में चलते हुए वे कहने लगे, 'माँ, वह नट गिरीश तेरी महिमा क्या समझेगा ? उसके अपराध पर ध्यान न देना माँ !"

"थियेटर की घटना भक्तों के सुनने में आयी । सबने कहा—'ऐसे आदमी के पास जाना उचित नहीं है । राम बाबू ने भी सुना और इसी लिए अगले दिन दक्षिणेश्वर आये । राम बाबू के आते ही उन्होंने कहा —'राम ! तुम क्या कहते हो !' राम बाबू बोले— 'देखिए, जैसे कालीय नाग ने श्री कृष्ण से कहा था कि आपने ही तो मुझे विष दिया है तो अमृत कहाँ से लाऊँ ? आप उनके ऊपर भला क्यों नाराज होंगे ?' राम बाबू की बात पर उन्होंने कहा—'तो चलो राम ! तुम्हारी ही गाड़ी में एक बार वहाँ जाऊँ ।' इतना कहकर वे मुझे, राम बाबू तथा और भी दो लोगों को साथ लेकर गाड़ी में बैठे । उधर गिरीश बाबू के मन में बड़ा खेद हो रहा था, खाना-पीना छोड़कर वे दिन भर रोते रहे थे । सन्ध्या होने के थोड़ा पूर्व हम उनके घर पहुँचे । ठाकुर के आने का संवाद पाकर वे रोते हुए नीचे उतर आये और उन्हें देखते ही जमीन पर पूरा लेटकर प्रणाम किया । ठाकुर ने जब कहा—'हो गया, हो गया' तब वे जमीन से उठे, तदुपरांत उन्होंने कितनी ही बातें कहीं । उस दिन मैंने गिरीश बाबू को कहते सुना —'ठाकुर ! यदि तुम आज न आते, तो मैं समझ लेता कि तुम अब भी निन्दा-स्तुति के परे नहीं जा सके हो,तुम्हें परमहंस नाम ग्रहण करने का अधिकार नहीं है; तुम हमारे समान ही एक आदमी हो और स्वांग करके पेट पालन करते हो । परन्तु आज मैं समझ गया कि तुम वही हो, वही हो, मुझे अब और भुलावे में नहीं डाल सकोगे । अब मैं तुम्हें छोड़ने का नहीं, मैं अपना सारा भार तुम्हें ही सौंपता हूँ । कहो कि तुम मेरा भार स्वीकार करोगे, मेरा उद्धार करोगे ।"

"इसके बाद भी वे हम लोगों को साथ लेकर थियेटर देखने गये थे । एक दिन 'दस महाविद्या' (बाद में 'दक्षयज्ञ') नाटक हो रहा था । वहाँ उन्होंने ज्योंही गिरीश बाबू को कहते सुना—'शिव का नाम अब धरती पर न रहने दूँगा'; त्योंही उन्होंने कहा—'साला कहता क्या है—शिव का नाम अब धरती पर न रहने दूँगा । यह तो अच्छी शिक्षा दे रहा है यह मूर्ख । यह सब अब और सुनने की आवश्यकता नहीं, क्या कहते हो ?' गिरीश बाबू को पता चला कि ठाकुर चले जाना चाहते हैं, अतः अपनी उसी पोषाक में दौड़े चले आये और बोले —'थोड़ा और सुनिए न ।' ठाकुर ने कहा—'यह सब क्या लिखते हो—शिव का नाम अब धरती पर न रहने दूँगा—क्या यही सब लिखना चाहिए ?' इस पर गिरीश बाबू ने कहा—'पेट के लिए ही वह सब लिखना पड़ता है ।' गिरीश बाबू की बात पर उन्होंने थोड़ी देर और थियेटर देखा ।"

"थियेटर में हुई एक अन्य घटना भी मैंने सुनी है । एक दिन नाटक समाप्त हो जाने के बाद गिरीश बाबू उन्हें सज्जाकक्ष में ले गये और वहाँ उपस्थित सभी महिलाओं से कहा—'अरे, बाबा को प्रणाम करो, तुम लोगों का सारा पाप धुल जाएगा ।' सभी महिलाएँ उनका चरण स्पर्श करके प्रणाम करना चाहती हैं, यह देखकर उन्होंने कहा था—'वहीं से करने से हो जायगा जी ।' परन्तु वे लोग क्या सुनने वाली थीं ? किसी-किसी ने चरण स्पर्श किया था । दक्षिणेश्वर आकर वे हम लोगों से कहने लगे— 'अरे पैर में बड़ी जलन हो रही है रे ।' इसे सुनकर

रामलाल (दादा) ने गंगाजल लाकर उनके पाँव धो दिये और उसके बाद ही जलन कम हुई। समझे! वे अशुद्ध लोगों का स्पर्श सह न पाते थे।"

"अन्नकूट के दिन मारवाड़ी लोगों ने उन्हें निमंत्रित किया था। ठाकुर हमलोगों को साथ लेकर वहाँ गये थे। उस बार मारवाड़ी भक्तों ने बहुत बड़ा उत्सव किया था। इतने लोग आये थे कि पाँच बजे कहीं हमारा खाना समाप्त हुआ। उसके बाद ठाकुर ने एक गाड़ी में (अपने साथ) रामबाबू तथा और भी दो-एक लोगों को बैठा लिया था। दीवाली के कारण रास्ते में खूब रोशनी हो रही थी। उस दिन उन्होंने रामबाबू को एक पैसे की एक चीलम खरीदने को कहा।"

"एक दिन एक भक्त-महिला ने श्रीमाँ के पास जाकर कहा—"मैं बड़ी गरीब हूँ, ठाकुर के लिए विशेष कुछ ला नहीं सकी, उनकी सेवा के लिए थोड़ा सा कुछ पकाकर लायी हूँ।' यह सुनकर माताजी ने कहा—'उनका खाना तो हो चुका है बिटिया। अब वे क्या खा सकेंगे? इतनी देर से लाना चाहिये क्या!' माँ की बात सुनकर वे रोने लगीं। थोड़े देर के बाद ठाकुर भाव में लड़खड़ाते उसी ओर आये और महिला के हाथ से खाना लेकर उसे प्रसाद कर दिया। उसके बाद वे हम लोगों से बोले—'देख! अब से जो कोई भी चीज़ आये, वह सब नौबत में दिखाकर फिर सबको देना।' "

यह बात सुनकर एक भक्त ने पूछा—'महाराज! ठाकुर ने ऐसा नियम क्यों बनाया?'

लाटू महाराज—"जानते हो क्यों किया? उनकी बीमारी के पूर्व ऐसे अनेक लोग दक्षिणेश्वर आने लगे जिनके देह मन शुद्ध न थे। वे लोग कामनाओं के साथ उन्हें खाने की चीजें भेजने लगे। ऐसा भी होने लगा कि मैंने कोई चीज उनके पत्तल में दी और साथ ही वे चिल्ला उठते—'यह चीज किस मूर्ख ने दी है रे? उसका लड़का अच्छी तरह रहे इस कामना के साथ दुष्ट ने मिठाई भेजी है। साला बड़ा कृपण है।'यह कहते हुए वे उस चीज को फेंक देते। ऐसी सब घटनाएँ होने लगीं उन सब चीजों का दोष निवारण करने के लिए वे उन्हें श्रीमाँ के पास नौबतखाने में भिजवा देते थे।"

"दक्षिणेश्वर में एक बार उनका पैर फूलने लगा। महेन्द्र कविराज (श्री महेन्द्रनाथ पाल) ने उन्हें नीबू लेने का सुझाव दिया। योगीन भाई ने यह सुना और वे प्रतिदिन दो ताजे नीबू ला दिया करते थे। ठाकुर प्रतिदिन उन नीबुओं का रस पीते थे, परन्तु एक दिन उसे न पी सके थे। योगीन भाई को इस पर आश्चर्य हुआ। बाद में पता चला कि योगीन भाई जिस उद्यान से नीबू लाते थे, उसी दिन से उसका एक अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरण हो गया था। सत्य निष्ठा के कारण वे (ठाकुर) दूसरे को बिना पूछे लाया हुआ फल ग्रहण नहीं कर सके थे।"

इसके साथ ही लाटू महाराज ने एक और घटना भी बतायी थी। "एक दिन ठाकुर ने मन्दिर के उद्यान में एक पका आम पड़ा हुआ देखा। वे आम को उठा न सके और बाद में हममें से एक जने को कहा—'अरे! वहाँ पर एक आम पड़ा है, जा उठाकर खजांची को दे आ।' खजांची बाबू ने वह आम लिया नहीं, बल्कि जो ले गया था उसे कहा—'तुम्हीं लोग खा डालो।' "

"दक्षिणेश्वर में जिस बार उनका आखिरी जन्मोत्सव हुआ था, उस बार नरोत्तम कीर्त्तनिया आये। उस बार काफी भीड़ हुई थी, २५०-३०० लोगों ने भोजन किया था। उस बार लोरेन बाबू का स्पर्श करके उन्हें समाधि लग गयी थी। उसी बार से दो दल हो गया था, समझे! एक दल में रहे रामबाबू, गिरीश बाबू, मनोमोहन बाबू, केदार बाबू वगैरह—ये लोग उन्हें अवतार कहने लगे। और दूसरे दल में रहे बलराम बाबू, किशोरी बाबू, सुरेश बाबू, प्राणकृष्ण बाबू इत्यादि। उसी बार उन्होंने (ठाकुर) सबको बताया—'ईश्वर ही तो माया हुए हैं, उन्होंने ही तो जीव जगत का रूप

धारण किया है। अवतार में उनकी एक प्रकार की अभिव्यक्ति है और जीव में उनकी एक अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति है। वे एक हैं और वे ही सब हैं ...जो राम हुए थे, जो कृष्ण हुए थे, वे ही इस बार (स्वयं की ओर संकेत करते हुए) रामकृष्ण हुए हैं।,.......

"एक दिन वे गिरीश बाबू के घर गये। वहाँ गिरीश बाबू के भाई अतुल बाबू के साथ उनकी बहुत सी बातें हुईं। वहाँ भोजन के समय लोरेन बाबू के पत्तल पर उन्होंने दही का प्रसाद दिया था।" (क्रमशः)

अवतारवाद–एक अनुशीलन

—ब्र० चन्द्रकान्त
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

बहुत से नये लोग जब आश्रम में आते हैं. तथा हम लोगों से मिलते हैं तो वे सहसा यह प्रश्न करते हैं कि आप श्रीरामकृष्ण परमहंसजी को भगवान मानते हैं, अवतार मानते हैं फिर यह बताइये कि उन्हें कैंसर क्यों हुआ था, उन्हें अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट क्यों भोगने पड़े तथा अन्य अवतार जैसे श्रीरामचन्द्र जी ने सीताजी की अग्नि परीक्षा क्यों ली या भगवान श्रीकृष्ण ने भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, कर्ण इत्यादि योद्धाओं को कूट नीति से क्यों मार डाला, उन्होंने शुद्ध सत्य का क्यों नहीं पालन किया इत्यादि इत्यादि।

उपर्युक्त प्रकार के प्रश्न दो प्रकार की मनोभूमिका से पूछे जाते हैं, एक तो है जिज्ञासा या संशय, जिनका समाधान किया जा सकता है, दूसरी मनोवृत्ति है असूया की। इस प्रकार की मनोवृत्ति के लोग यह सिद्ध करना चाहते हैं कि भगवान या तो अवतार हैं ही नहीं, या हैं भी तो उनमें मनुष्योचित अनेक दोष हैं। इस प्रकार की वृत्ति से. अवतार का चरित्र कभी भी नहीं समझा जा सकता तथा अवतारों से कुछ भी शुभ प्रेरणा नहीं प्राप्त की जा सकती।

श्रीरामकृष्णदेव की व्याधि के समय भक्त लोग उन्हें विभिन्न दृष्टियों से देखते थे जिसका वर्णन श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग के तृतीय भाग में स्वामी सारदानन्दजी महाराज ने किया है। उसी को हम लोग यहाँ पर विवेचना करेंगे।

भक्तों का एक वर्ग था जो सोचता था एवं सबके निकट व्यक्त भी करता था कि युगावतार श्रीरामकृष्ण देव की शारीरिक व्याधि एक मिथ्या स्वांग मात्र है। किसी विशेष उद्देश्य के साधन के लिए जान बूझकर उन्होंने इसे अपना लिया है और जब इच्छा होगी तब वे पहले की तरह हमारे समक्ष प्रकट होंगे। उनका संपूर्ण जीवन ही उनकी लीला है तथा यह व्याधि भी लीलामय प्रभु की लीला ही है। इस प्रकार का एक भाव भक्तों का था। इस लीला के भाव से अवतार के जीवन का अनुशीलन करने पर भी मनुष्य उनकी लीला का आस्वादन कर अपना जीवन धन्य कर सकता है।

दूसरे प्रकार का भाव है प्रारब्धवाद या कार्यकारण भाव का। इस भाव के साधक यदि अवतार के जीवन का अनुशीलन करें तो वे यह प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं कि अवतारवादी महापुरुषों को भी कर्म-फल या प्रारब्ध भोगना पड़ता है। तथा वे उसे आनन्दपूर्वक सहन करते

हुए भोगते हैं तो हमें भी अपने प्रारब्ध के अनुसार जो सुख-दुख: प्राप्त हो रहे हैं उन्हें सहन करना होगा तथा उन्हें भोग कर उनका क्षय करना होगा। श्री श्री माँ ने भी एक बार कहा था कि प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है, श्री श्री ठाकुर को भी कर्मफल भोगना पड़ा था। भगवान श्रीकृष्ण भी गीता में हमें यही शिक्षा देते हैं। "तां तितीक्षस्व भारत:" कि ये सुख दु:खादि द्वन्द्व आयेंगे ही इन्हें सहन करना होगा, भोगना होगा।

तीसरे प्रकार के साधक भक्तों का एक वर्ग है। वे सोचते हैं कि अवतार तो प्रारब्धश जन्म ग्रहण नहीं करते, वे तो मात्र दया या करुणा के वशीभूत होकर ही जीव-कल्याण के लिए माया का अवलम्बन लेकर शरीर धारण करते हैं। तुलसीदासजी के शब्दों में "अघ खंडन दुख: भंजन जनके यही तिहारो काज," यानी पापियों का उद्धार तथा दु:खनाश करना ही उनका प्रधान कर्त्तव्य होता है। तथा वे भक्तों का पापभार ग्रहण करते हैं। इसी कारण उन्हें इस प्रकार के रोग भोग तथा शारीरिक कष्ट सहने पड़ते हैं। ईसामसीह के भक्त भी, ईसा ने सारे संसार का पापभार ग्रहण किया है, इस भाव को मानते हैं तथा ईसा ने अपने आपको सारे संसार के लिए बलि दी, इसपर दृढ़ विश्वास करते हैं। (इसे अंग्रेजी में —crusifixion) कहते हैं। गले की व्याधि से पीड़ित होकर श्रीरामकृष्णदेव जब कलकत्ते के श्यामपुकुर नामक स्थान में निवास कर रहे थे तब उन्हें भी इस तरह का एक अद्भुत दर्शन हुआ था। उन्होंने देखा उनका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से निकलकर इधर उधर घूम रहा है और उसके गले के संयोग स्थल में बहुत घाव हुए हैं। आश्चर्य चकित होकर जब वे इसका कारण सोचने लगे तब श्री जगदम्बा ने उन्हें समझा दिया कि अनेक प्रकार के कुकर्म करके लोग आकर उनका स्पर्श करके पवित्र हुए हैं। उनके पाप इनके शरीर में प्रविष्ट हो जाने से शरीर में घाव हुए हैं। उपर्युक्त दर्शन भी श्रीरामकृष्ण देव के अवतारत्व एवं लोगों के पापकर्मों का भार ग्रहण इस भाव को स्वीकार करता है।

चौथे प्रकार के साधकों का भाव ऐसा होता है कि भले ही श्रीरामकृष्ण देव पूर्ण ब्रह्म हैं पर उन्होंने माया का आश्रय लेकर जब शरीर धारण किया है तो उन्हें शरीर की सभी अवस्थाओं का भी भोग करना ही होगा जैसे—बाल्यवस्था, तरुणावस्था, वृद्धावस्था, रोगावस्था इत्यादि। अत: श्रीरामकृष्ण देव को यह व्याधि किसी भी तरह क्यों न उपस्थित हुई हो हमें उन्हें नीरोग करने की चेष्टा करनी चाहिए तथा उन्होंने मानव जीवन का जो उच्च आदर्श हमारे सामने उपस्थित किया है उसी सांचे में हमें अपने को गठित करना चाहिए, उनके उपदेशानुसार साधन भजन में नियुक्त रहना चाहिए एवं उनके उपदेशों को क्रियान्वित करना चाहिए।

उपर्युक्त चार प्रकार से अवतारों के जीवन को देखा जा सकता है एवं उसका अनुशीलन किया जा सकता है, तथा सभी लोग उनसे अपने अपने स्वभाव तथा संस्कारों के अनुरूप प्रेरणा प्राप्त कर चरम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। पर असूया वृत्ति से किसी भी अवतार के जीवन की आलोचना करना कभी भी उचित नहीं।

मनुष्य एक असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, लेकिन जिसका केन्द्र एक स्थान में निश्चित है, और परमेश्वर एक ऐसा असीम वृ है, जिसकी परिधित्त कहीं नहीं है, परन्तु जिसका केन्द्र सर्वत्र है।

स्वामी विवेकानन्द

भगवान श्रीरामकृष्णदेव का १५३वाँ जयन्ती-महोत्सव

रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची

राँची १ मार्च। रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची में श्रीरामकृष्ण देव का १५३वाँ जन्म-उत्सव ११ फरवरी, ८८ से २१ फरवरी, ८८ तक उल्लास पूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर ११-२-८८ से १६-२-८८ तक श्री शिवनाथ बाजपेयी, कानपुर द्वारा रामचरित मानस पर प्रवचन का आयोजन किका गया था। श्री बाजपेयी ने मानस में भरत के जीवन चरित्र की महिमा पर प्रभावोत्पादक प्रवचन किये।

१९ फरवरी को भगवान श्रीरामकृष्ण देव की जन्म तिथि पूजा, भजन प्रभात फेरी और प्रसाद वितरण से मनायी गयी।

इसी अवसर पर २० और २१ फरवरी को सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। इसमें स्वामी श्रीधरानन्द, सचिव, रामकृष्ण मिशन, लखनऊ, स्वामी गौतमानन्द, सचिव, रामकृष्ण मिशन, अलौंग तथा स्वामी सत्यरूपानन्द, बेलुड़ मठ ने श्रीरामकृष्ण देव, श्रीमाँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवन एवं वाणी की आज के समाज तथा व्यक्ति के जीवन में उपयोगिता पर सारगर्भ विचार प्रस्तुत किये। स्वामी विवेकानन्दजी के जन्मोत्सव के उपलक्ष में आयोजित की गयी भाषण, आवृत्ति तथा निबन्ध प्रतियोगिता में सफल छात्र-छात्राओं को पुरस्कार वितरण के साथ महोत्सव का समापन हुआ।

रामकृष्ण मठ, नागपुर

नागपुर, १५ मार्च। रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर के तत्वावधान में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव
का १५३ वाँ जयन्ती महोत्सव मठ प्राङ्गण में दिनांक ६ मार्च, १९८८ से लेकर दिनांक ११मार्च, १९८८ तक
श्रद्धा एवं उत्साह पूर्वक आयोजित किया गया। १९ फरवरी को तिथि पूजा करने के उपरान्त ६
से ७ मार्च तक सार्वजनिक सभा का आयोजन हुआ। ६ मार्च की जनसभा का विषय था—"भगवान
श्रीरामकृष्ण का जीवन तथा संदेश"। अध्यक्षता उच्च न्यायालय, नागपुर के माननीय न्यायाधीश न्यायमूर्ति
श्री अशोक देशाई ने की। मुख्य अतिथि थे विवेक शिखा के सम्पादक तथा श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम,
छपरा के सचिव डा० केदारनाथ लाभ। इस अवसर पर डॉ० एन० वी० करबेलकर, एम० एससी, पी०
एच०डी० ने श्रीरामकृष्ण के जीवन एवं गृहीजनों के लिए दिये गये उनके उपदेशों पर मराठी भाषा में बड़ा
ही सरल एवं प्रभावशाली व्याख्यान दिया।

डॉ० केदारनाथ लाभ ने हिन्दी में अपना व्याख्यान देते हुए बताया कि श्रीरामकृष्ण ने न केवल
स्वयं मनुष्य के रूप में जन्म लेकर ईश्वर की भाँति आचरण किया बल्कि उन्होंने मानव मात्र को ईश्वर
के शिखर पर प्रतिष्ठित होने की प्रेरणा दी। उन्होंने एकत्वानुभूति के द्वारा जीव को शिव भाव से पूजा
करने का संदेश दिया, विभिन्न धर्मों की सत्यता को स्वीकार करने की प्रेरणा दी तथा संसार में रहते हुए
ईश्वर लाभ करने का मार्ग बताया। डॉ० लाभ ने कहा कि वर्तमान विश्व की जटिल समस्याओं का
समाधान श्रीरामकृष्ण के उपदेशों में निहित है। श्रीरामकृष्ण इक्कीसवीं सदी के लिए प्रेरक पुरुष एवं
प्रकाश-स्तंभ हैं।

न्यायमूर्ति श्री अशोक देसाई ने अपने अध्यक्षीय भाषण में विस्तार से राजा राम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, महर्षि दयानन्द सरस्वती, डॉ० अम्बेदकर आदि समाज सुधारकों के प्रयासों की चर्चा करते हुए लोक कल्याण के संदर्भ में श्रीरामकृष्ण के अवदानों की बड़ी मार्मिक व्याख्या की। उन्होंने कहा कि अन्य सुधारक नदियों की भाँति आये और अनन्त के सागर में खो गये किन्तु श्रीरामकृष्ण अनन्त सागर बनकर आये और

लोक कल्याण के लिए नदियों के रूप में प्रवाहित होने लगे। सागर ही नदी के रूप में मानो प्रवाहित लगा हो। स्वभावतः यह नदी कभी सूखनेवाली नहीं है।

आरम्भ में मठ के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी व्योमरूपानन्दजी महाराज ने अतिथियों का स्वागत किया। स्वामी वागीश्वरानन्दजी महाराज ने अतिथियों का परिचय दिया, भजन प्रस्तुत किया एवं अन्त में धन्यवाद ज्ञापन किया।

७ मार्च को "युगनायक स्वामी विवेकानन्द" विषय पर व्याख्यान हुआ। एक मात्र वक्ता थे डॉ० केदारनाथ लाभ। उन्होंने प्रायः सवा घंटे तक स्वामी विवेकानन्द के युगनायकत्व पर विवेचन करते हुए कहा कि स्वामीजी का मुख्य उद्देश्य मनुष्य, सच्चे मनुष्य का निर्माण करना था। अपने राष्ट्र के प्रति विशेष अनुरक्त रहने पर भी वे निखिल मानवता के पथ-प्रदर्शक थे, सम्पूर्ण विश्व के विकास के लिए वे एक ज्योति का संदेश लेकर आये थे। आधुनिक विश्व के सामने स्वामी विवेकानन्द का अनुकरण करने के सिवा कोई विकल्प नहीं है। स्वामी गीतात्मानन्दजी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

८ मार्च से १० मार्च तक स्वामी आत्मानन्दजी महाराज, सचिव रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर ने "श्रीमद्भागवत् का रस पीयूष" विषय पर प्रवचन देकर श्रोताओं को रस सागर में सराबोर कर दिया।

श्री रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा

छपरा, १६ मार्च। स्थानीय श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा में १९ फरवरी को श्रीरामकृष्णदेव की जन्म-तिथि-पूजा भक्तिपूर्ण वातावरण में की गयी। मंगलारती के उपरान्त विशेष पूजा, हवन, शास्त्र पाठ, वचनामृत पाठ एवं कीर्तन भजन हुए। प्रसाद वितरण के उपरान्त शाम को श्रीरामकृष्ण के जीवन और संदेश पर एक सभा हुई जिसमें प्रो० पद्माकर झा एवं डॉ० केदारनाथ लाभ ने अपने विचार प्रस्तुत किये। अध्यक्षता की राजेन्द्र कॉलेज छपरा के वनस्पति शास्त्र के विभागाध्यक्ष डॉ० उदय नारायण ने। श्री ब्रजमोहन कुमार सिन्हा ने धन्यवाद ज्ञापन किया। श्री शिशिर कुमार मल्लिक और श्री श्याम किशोर के द्वारा प्रस्तुत भजन से सभा का समापन हुआ।

इस अवसर पर १३ मार्च से १५ मार्च तक एक जन-सभा का आयोजन स्थानीय नगरपालिका भवन में किया गया। रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के स्वामी सत्यरूपानन्दजी महाराज ने तीनों दिन जन-सभा को सम्बोधित किया। सभा का उद्घाटन छपरा नगरपालिका के अध्यक्ष श्री महेन्द्र प्रसाद ने किया। डॉ० केदारनाथ लाभ ने स्वागत भाषण किया एवं आश्रम की गतिविधियों की जानकारी दी।

सभा के प्रथम दिन स्वामीजी ने रामकृष्ण भावधारा को वर्त्तमान युग का एकमात्र विकल्प बताते हुए श्रीरामकृष्ण के जीवन और दर्शन की विस्तृत विवेचना की। दूसरे दिन माँ सारदा को साक्षात मातृत्व की संज्ञा देते हुए उन्होंने मातृभाव के विस्तार पर बल दिया। तीसरे दिन युगनायक स्वामी विवेकानन्द को ज्ञान का सूर्य बतलाते हुए उनके आलोक में अपने-अपने भीतर के विवेकानन्द को जानने-परखने और जगाने की प्रेरणा दी।

तीनों दिन सभा की अध्यक्षता क्रमशः प्राचार्य सुशील कुमार सिंह, डॉ० उषा वर्मा और स्वतंत्रता सेनानी श्री कपिलदेव प्रसाद श्रीवास्तव ने की। धन्यवाद ज्ञापन क्रमशः प्राचार्य कैलाश प्रसाद सिंह, श्री राम किशोर प्रसाद श्रीवास्तव, समायोजक नेहरू युवा केन्द्र, तथा प्रो० श्रीनाथ मेहरोत्रा ने किया।

१३ मार्च को आश्रम के प्राङ्गण में स्वामी सत्यरूपानन्दजी के हाथों प्रायः १२५ निर्धन नर-नारियों को आश्रम की ओर से नयी धोती साड़ियाँ प्रदान की गयीं। प्रत्येक दिन सभा का आरम्भ और समापन श्री शिशिर कुमार मल्लिक एवं श्री श्याम किशोर द्वारा प्रस्तुत भजन-गायन से हुआ।

I love you all because you are the children of gods, and because you are the children of the glorious forefathers. How then can I curse you ? Never. All blessings be upon you. (iii-227)

—SWAMI VIVEKANANDA

Avatar may come upon earth many times when it is necessary,
but a Swami Vivekananda may hardly be born.

With Best Compliments From :
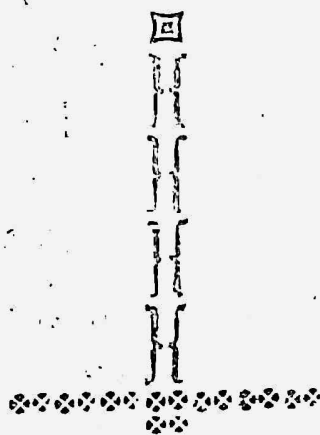
अपने पैरों आप खड़े हो जाओ

…………नवयुवको, तुम्हारे ऊपर ही मेरी आशा है। क्या तुम अपनी जाति और राष्ट्र की पुकार सुनोगे ? यदि तुम्हें मुझ पर विश्वास है तो मैं कहूँगा कि तुममें से प्रत्येक का भविष्य उज्ज्वल है। अपने आप पर अगाध, अटूट विश्वास रखो, वैसा ही विश्वास, जैसा मैं बाल्यकाल में सबके ऊपर रखता था और जिसे मैं अब कार्यान्वित कर रहा हूँ। तुममें से प्रत्येक अपने आप पर विश्वास रखो। यह विश्वास रखो कि प्रत्येक की आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। तभी तुम सारे भारतवर्ष को पुनरुज्जीवित कर सकोगे। हमें भारत में बसनेवाली और भारत के बाहर बसनेवाली सभी जातियों के अन्दर प्रवेश करना होगा। इसके लिए हमें कर्म करना होगा। और इस काम के लिए मुझे युवक चाहिए। वेदों में कहा है, 'युवक, बलशाली, स्वस्थ, तीव्र मेधावाले और उत्साहयुक्त मनुष्य ही ईश्वर के पास पहु सकते हैं।' तुम्हारे भविष्य को निश्चित करने का यही समय है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि अभी इस भ जवानी में, इस नये जोश के जमाने में ही काम करो, जीर्ण शीर्ण हो जाने पर काम नहीं होगा। काम कर क्योंकि काम करने का यही समय है। सबसे अधिक ताजे, बिना स्पर्श किये हुए और बिना सूँघे फूल ही भगवान् के चरणों पर चढ़ाये जाते हैं और वे उसे ही ग्रहण करते हैं। अपने पैरों पर आप खड़े हो जाओ देर न करो; क्योंकि जीवन क्षण-स्थायी है। वकील बनने की अभिलाषा आदि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्य करने हैं तथा इससे भी ऊँची अभिलाषा रखो और अपनी जाति, देश, राष्ट्र और समग्र मानव-समाज के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करना सीखो। …… ……जीवन की अवधि अल्प है पर आत्मा अमर और अनन्त है, और मृत्यु अनिवार्य है। इसलिए आओ, हम अपने आगे एक महान् आदर्श खड़ा करें और लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दें।

—स्वामी विवेकान

मूल्य : २.२०

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं श्रीकांत लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना—४ में मुद्रित।